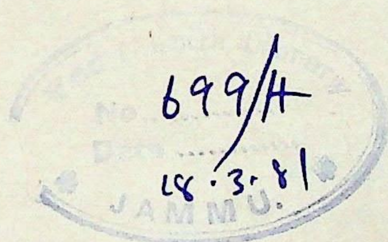
व्यवहार
और
परमार्थ

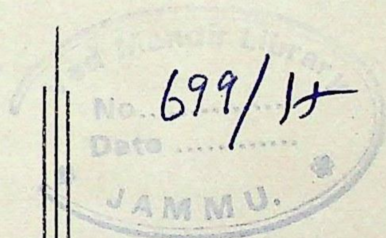


व्यवहार और परमार्थ

प्रवक्ता

स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

व्यवहार और परमार्थ



प्रवक्ता

स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

व्यवहार और परमार्थ
गुरुपूर्णिमा—१९७१ जुलाई
मूल्य : तीन रुपये पचहत्तर पैसे मात्र

प्रकाशक
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल'
२८/१६ रिजरोड
बम्बई–६

मुद्रक
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
सीके० ३६/२० ढुण्ढिराज
वाराणसी–१

अनुक्रम

व्यवहार और परमार्थ

गुरुपूर्णिमा—१९७१ जुलाई

मूल्य : तीन रुपये पचहत्तर पैसे मात्र

प्रकाशक
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल'
२८/१६ रिजरोड
बम्बई-६

मुद्रक
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
सीके० ३६/२० ढुण्ढिराज
वाराणसी-१

व्यवहार और परमार्थ

व्यवहार और परमार्थ

गुरुपूर्णिमा—१९७१ जुलाई

मूल्य : तीन रुपये पचहत्तर पैसे मात्र

प्रकाशक
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल'
२८/१६ रिजरोड
बम्बई–६

मुद्रक
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
सीके० ३६/२० ढुण्ढिराज
वाराणसी–१

अनुक्रम



व्यवहार और परमार्थ

प्रस्तावना

हम क्या चाहते हैं ?

मनुष्य-जीवनमें तीन प्रकारकी इच्छाएँ स्वाभाविक ही रहती हैं—मैं जीवित रहूँ, मैं समझता रहूँ और मैं सुखी रहूँ।

इन तीनों इच्छाओंसे जीवनका यह लक्ष्य सूचित होता है कि मैं सत्-अविनाशी, चित्-सर्वावभासक एवं परमानन्दस्वरूप हो जाऊँ।

इसके साथ ही अपने प्रभाव, यश आदिका विस्तार अर्थात् देशमें व्यापकता, सर्ववस्तुओंपर आधिपत्य, पराधीन न होना अर्थात् स्वातन्त्र्य भी चाहते हैं। अनायास ही हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जाय ऐसी इच्छासे स्वतःसिद्ध वस्तुकी प्राप्ति अभीष्ट है, ऐसा भी निश्चय होता है। अपनी इन इच्छाओंका पिण्डीभूत अर्थ है कि हम परमात्मासे एक होना चाहते हैं या परमात्मा होना चाहते हैं। ज्ञानी-अज्ञानी सबके हृदयमें समझे-अनसमझे यह स्वाभाविक इच्छा है।

इन इच्छाओंकी पूर्तिके जो साधन निश्चित किये हुए हैं, उनपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि आत्मानुभूतिसे शून्य बहिर्मुख पुरुष केवल स्थूल वस्तुओंके एकत्रीकरणको एकमात्र अपने जीवनकी सफलता मानते हैं। ऐसे लोगोंको अर्थपरायण कहा जाता है। जो लोग अर्थके साथ ही साथ भोगको भी प्रधानता देते हैं, वे काम-परायण कहे जाते हैं, परन्तु अर्थ-कामके अनियन्त्रित सेवनसे शरीरमें रोग, इन्द्रिय-दौर्बल्य और समाजमें संघर्ष, वैमनस्य, पराधीनता, युद्ध आदिकी सृष्टि होती है। इसीसे धर्मकी आवश्यकताका अनुभव होता है। क्या अधिक-से-अधिक अर्थभोग और श्रमकी सुविधा हमें ही मिलनी चाहिए; दूसरोंको नहीं? पहले क्या करना, क्या भोगना, क्या इकट्ठा करना आवश्यक है—इसका विवेक तो होना ही चाहिए। समाज या राष्ट्रके लिए विश्वकी दृष्टिसे क्या उपयुक्त है यह दृष्टिकोण होना भी आवश्यक है। केवल बाह्य वस्तुओंके लिए और उनके शोधन, उत्पादन, प्राप्ति और विनिमयके लिए जो कुछ किया जाता है उसे श्रम कहते हैं। बाह्यके साथ अन्तरका—समन्वयके लिए—हृदयकी शुद्धिके लिए जो कुछ किया जाता है—उसको धर्म कहते हैं। धर्म काम-अर्थकी वासनाको नियन्त्रित करके

मनुष्यकी वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय एवं सर्वप्रकारके अनर्थोंसे रक्षा करता है। धर्मके साथ अभ्युदय एवं निःश्रेयसका होना अनिवार्य है। पूर्वमीमांसाके भाष्यकार धर्मलक्षणके सूत्रकी व्याख्यामें 'विहितत्व'से उपक्रम करके निःश्रेयसकरत्वपर ही उसका उपसंहार करते हैं—कणादका तो धर्मलक्षणसूत्र ही 'यतोभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धि' है।

धर्म अर्थात् बहते हुए मन-इन्द्रिय-प्राणको धारण करके एक मर्यादामें स्थापित करनेकी शक्ति अनुशासनके द्वारा जाग्रत करनी पड़ती है। इसके बिना मनुष्य और पशुका भेद नहीं हो सकता।

जो मनमें आया वही कर लिया—भोग लिया या बोल दिया तो मनुष्यमें बुद्धिमान् होनेकी पहचान क्या रही ? जीवनमें अर्थ और कामके साथ ही धर्मकी नितान्त आवश्यकता है। उच्छृङ्खल अर्थसंग्रह एवं कामोपभोग व्यक्ति एवं समाजको जर्जर तथा बर्बर बना देते हैं। सम्पूर्ण रोगों, संघर्षोंकी सृष्टि इन्हींसे होती है। ये अन्तरङ्ग रोगके परिणाम हैं। सौमनस्यके विघातक एवं वैमनस्यके जनक हैं। इसलिए कब कहाँ, किसको, किससे, किसलिए कितना अर्थ-कामका संग्रह करना चाहिए, इसका एकमात्र नियन्ता धर्म ही है। शासन, पंचायत, कानून, फौज-पुलिस ये सब थोड़ी देरके लिए बाहर-बाहर नियन्त्रण कर सकते हैं, स्वयं इनकी सुव्यवस्थाके लिए भी धर्मकी आवश्यकता है। कोई भी व्यक्ति, जाति, सम्प्रदाय प्रान्त, राष्ट्र धर्मके बिना प्रगति-उन्नति नहीं कर सकता। अन्तर-राष्ट्रियता या मानवता भी धर्मके बिना अकिंचित्कर है क्योंकि भौगोलिक अथवा सामाजिक संघ आस्था बिना जीवित नहीं रह सकता। आस्था हृदयमें रहती है। दृश्यमान अनेकतामें ऐक्य

भावमूलक ही है। वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे जो ऐक्य है वह तो कुछ मनुष्योंके ही बुद्धिगम्य होता है इसलिए सामान्य जनताको जीवनके क्षेत्रमें ज्ञान एवं विज्ञानसे उतना लाभ प्राप्त नहीं होता जितना भावनात्मक धर्मसे होता है। इस धर्मधाराको सूक्ष्म शरीरके साथ अक्षुण्ण एवं नित्य सम्बद्ध बनाये रखनेमें जन्म-जन्मान्तरका विश्वास भी बहुत सहायक होता है। स्वर्गका लोभ और नरकका भय भी उस विश्वासको पुष्ट करता है।

हम मानते हैं, जो महान् वैज्ञानिक आविष्कार हो रहे हैं—हुए हैं और होंगे—जो विश्वको भौतिक विकास एवं समृद्धि प्राप्त हो रही है, नवीन-नवीन तथ्योंका उद्घाटन हो रहा है और हम एक सर्वमान्य उन्नतिको ओर अग्रसर हो रहे हैं यह आवश्यक है, अनिवार्य है–मानव समाजके लिए आवश्यक है। भौतिक उन्नतिके बिना केवल आध्यात्मिक शोधन, आधिदैविक विश्वास अथवा धार्मिक कर्मकाण्ड अधूरा ही रहता है। भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा, चिकित्सा, संचार, आदान-प्रदान, शासन आदिकी उन्नतिके बिना धार्मिक आस्था अनुपयुक्त, शुष्क एवं विघटनकारिणी-सी हो जायगी। अर्थ, धर्म, काम तीनों पुरुषार्थ परस्पर-समन्वित ही होने चाहिए। धर्मानुसार अर्थ-काम हों, अर्थानुसार धर्म-काम हों और कामानुसार धर्म-अर्थ हों। धर्मके बिना अर्थ-काम अनर्थके हेतु हैं, धर्मानुरोधी अर्थ-काम श्रेय-प्रेयके साधन हैं।

किसी-किसीके मनमें शंका रहती है कि धर्मके अनुसार आहार-विहार, व्यवहार-व्याहार अथवा आचार-विचार बनानेपर लौकिक उत्थानमें बाधा पड़ती है; क्योंकि आज समाजका काम-काज, लेन-देन ऐसी अवस्थामें पहुँच गया है कि केवल धर्मानुकूल आचरणको

लोग एक सनक एवं पागलपन समझते हैं। देखनेमें आता है कि लोकव्यवहारमें जो अधिक धार्मिक होता है उसका लोग उपहास करते हैं और उसकी सफलता संदिग्ध रहती है। वर्तमान वातावरण और परिस्थितिमें उपर्युक्त बातें कुछ अंशतक सही हैं। फिर भी धर्मानुष्ठान थोड़े-से तप, कष्टसहिष्णुता और धैर्यको अपेक्षा रखता है। हमारा यह निश्चित मत है, अनुभव है और लोक-व्यवहारमें ऐसा देखा-सुना है कि सच्चे सदाचारी धर्मात्मा पुरुषका उपहास अधिक दिनोंतक नहीं होता। यदि कोई उत्साह, धैर्य और साहससे आसपास रहनेवाले लोगोंकी रहनी-सहनीकी अपेक्षा न रखकर ईमानदारीके साथ व्यवहार करता जाय तो थोड़े ही दिनोंमें अधिकाधिक जनता उसपर विश्वास करने लगती है। व्यवहारके क्षेत्रमें सफलता प्राप्त करनेके लिए इससे उत्तम कोई मार्ग नहीं है कि लोग उसपर विश्वास करें। यदि एक मासमें दस व्यक्ति भी किसीपर विश्वास करने लगे तो वह वर्षोंमें सहस्रोंका विश्वासपात्र बन जाता है। व्यवहारक्षेत्रमें जो बहुतोंका विश्वसनीय हो जाता है, उसे पद-पदपर सफलता वरण करती है—उसका एक-एक कदम सुख-समृद्धिकी ओर बढ़ता है। लोग धर्मवान् अथवा दीन-ईमानसे युक्त पुरुषसे ही व्यवहार करना पसन्द करते हैं, स्वयं चाहे जैसे भी हों। मैंने देखा है कि छोटे-छोटे व्यापारी अपनेको जनताका विश्वस्त बनाकर अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध बन गये हैं। ठीक है, आजकल विज्ञापनका युग है परन्तु प्रचारित विज्ञापनपर शंका होती है और सहज विज्ञापन स्थायी होता है। यदि हम सहज भावसे सच्चे धर्मात्मा बनें तो देर-सबेर जनसाधारणका ध्यान खिंचेगा ही। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपना धर्मपालन ध्यान खींचनेके लिए नहीं, हृदयकी पवित्रताके लिए होना चाहिए।

वस्तुओंके उपार्जनके साथ ही साथ उनका सदुपयोग और उपभोग होना भी आवश्यक है। यदि केवल वस्तुओंका उत्पादन और उपार्जन ही हो, विनिमय और वितरण ठीक-ठीक न हो तो एकत्र की हुई वस्तु नष्ट हो जाती है, अनभिप्रेत व्यक्तियोंके हाथ लगती है अथवा कर-दण्ड-शुल्क आदिके रूपमें उसका व्यय हो जाता है। अत्यन्त संग्रह अनर्थकी ओर उन्मुख होता है। उपार्जन-शक्तिका विनियोग धर्मकी वृद्धिके लिए, अर्थकी समृद्धिके लिए, उज्ज्वल यशके विस्तारके लिए स्वजन एवं मानवताकी सेवाके लिए अवश्य ही होना चाहिए। ये सब सम्पत्तिके दायभागी हैं। इन्हें अपना भाग प्राप्त न हो तो ये क्रुद्ध होकर मलिन भावकी सृष्टि करते हैं। यज्ञावशिष्ट सम्पत्ति ही कल्याणकारी होती है।

व्यष्टि-समष्टि अन्तर्यामी ईश्वरको नैवेद्य-अर्पण करनेके अनन्तर भगवत्प्रसादरूप सम्पत्तिका अपने लिए उपभोग मनुष्यके लिए अत्यन्त श्रेयस्कर है। ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जिसके लिए समष्टिके लिए कुछ-न-कुछ प्राप्त न हुआ हो। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश सब समष्टिरूपसे, हमारे हितकारी हैं। हमारा चलना-फिरना, खाना-पीना, बोलना, साँस लेना समष्टिके अनुग्रहपर ही निर्भर करता है। ऐसी परिस्थितिमें ऐसा कोई भी भोग हमारे जीवनमें नहीं होना चाहिए जिससे समष्टिकी हिंसा होती हो। भोगकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिसे ही रोगकी उत्पत्ति होती है। धर्म-नियन्त्रित भोग भी एक प्रकारका योग ही है। निर्मर्याद भोग केवल दूसरोंको ही दरिद्र-दुःखी नहीं बनाता, अपने आपको भी दुःखी-दरिद्र बनाता है। बहुत भोग करनेवालोंका भोगसामर्थ्य भी क्षीण हो जाता है। अधिक भोगसे जो शरीरकी पुष्टि, सन्तानकी

पुष्टि आदि चाहते हैं वे भी मूर्ख हैं; क्योंकि विलास उल्लासका साधन नहीं है। भोगका आधिक्य केवल शक्तिका अपव्यय है और शक्तिका अपव्यय हो जानेपर आदमी कहींका नहीं रहता—न घरका, न घाटका; न दीनका, न दुनियाका।

भोगका अभ्यास जितना अधिक बढ़ता है उतना ही राग-रोगका विकास और योगका ह्रास होता है। इसलिए भोग उतना ही करना चाहिए जितना जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यक हो, धर्म और अर्थका नाश करनेवाला न हो—मन और इन्द्रियोंको अप्रसन्नताकारक न हो। जिस भोगके अनन्तर वैरस्य, वैमनस्य, ग्लानि, घृणा, असमर्थता, पश्चात्ताप और दुःखकी उत्पत्ति होती हो ऐसा भोग कभी नहीं करना चाहिए। यह स्मरण रखने योग्य है कि हमें जीवनमें केवल भोग ही नहीं चाहिए, उसके साथ ही साथ बाह्य सम्पत्ति, यश, विश्वसनीयता, सामर्थ्य, धर्म, अन्तःकरणकी प्रसन्नता, विवेक और सुख भी चाहिए। केवल अर्थ एवं भोगके साथ बँध जाना जीवनकी पूर्णता नहीं है, चूर्णता है; विस्तीर्णता नहीं संकीर्णता है। जीवन उदीर्ण होना चाहिए।

मनुष्यके सूक्ष्मतम अन्तःप्रदेशमें सच्चिदानन्दकी अव्यक्त अनन्त धारा प्रवाहित हो रही है। मनुष्यके अङ्ग-अङ्गमें, अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें वह अनुस्यूत रहती है। सत्संस्कारोंके द्वारा प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति अर्थात् दोषापनयन करके उसको केवल अभिव्यक्ति दी जाती है। मनुष्योंमें जो सत् है, वह 'मनमें मैं हूँ और मैं रहना चाहता हूँ' इन दो भावोंके रूपमें प्रकट होता है। इसका यह परिणाम निकलता है कि मैं अपनी या किसी दूसरेकी मृत्युका निमित्त न बनूँ। जीऊँ और जीने दूँ। इसी सत्‌के आश्रित वस्तु और कर्म होते हैं।

हमारे पास वस्तु और कर्म दोनों ही ऐसे होने चाहिए जो जीने और जिलानेवाले हों। वस्तु ऐसी हो जिससे दूसरेका हक मारा न जाय, कर्म ऐसा हो जो किसीकी हिंसा न करे। इसी अवस्थामें हमारी वस्तु और कर्ममें भी सत्‌का अवतरण हो जाता है, तब हमारी सम्पत्ति सत्सम्पत्ति और कर्म सत्कर्म हो जाता है। इसीको धर्म कहते हैं। मनुष्य अपनी द्रव्यशक्ति एवं क्रियाशक्तिका उपयोग अपने जीवन-निर्वाहके लिए और दूसरोंके जीवनदानके लिए करें। वस्तुतः धन व्यक्तिगत होता ही नहीं। उसमें सबका अंश रहता है। कोई भी बाह्य एवं अन्तरक्रिया केवल आश्रयको ही प्रभावित नहीं करती, अपने विषयको भी प्रभावित करती है। इसलिए कर्म भी व्यक्तिगत नहीं होता। जब वस्तु और व्यक्ति दोनों ही व्यक्तिके लिए नहीं, समाजके लिए है, तब हमारा दृष्टिकोण अपने आप ही समाजवाद हो जाता है। इस समाजको, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदिके रूपमें संकुचित नहीं करना चाहिए। मानवता भी एक प्रकारकी जातीयता ही है। राष्ट्रियता भी अन्य राष्ट्रके प्रति क्लेश उत्पन्न करती है। पृथिवी भी एक ग्रह है और आगे राकेट आदिके द्वारा गमनागमन-व्यवस्था होनेपर दूसरे ग्रहके निवासियोंके साथ भी वैमनस्य, संघर्ष और युद्धकी सम्भावनाएँ हैं। ऐसी अवस्थामें ग्रहीय भाव भी संकीर्ण हो जायगा। अतः अगणित ब्रह्माण्डोंमें एकरस विद्यमान आत्मसत्ताका दर्शन ही सर्वोपरि उदारभाव एवं समाजवादकी (मौलिक) मूलभित्ति (तत्त्व) है। यह भाव रहनेपर ही धर्म और अर्थ अपने शुद्ध स्वरूपमें रहते हैं।

जीवन-निर्वाहके लिए अस्तिभावके पोषक पदार्थोंकी अपेक्षा होती है। बिना भावके पदार्थ और बिना पदार्थके भाव नहीं होते। जीवन एक भाव है। अन्न, वस्त्र, औषध, निवासस्थान, पूंजी,

परिवार यह सब पदार्थ हैं। यह सद्भावके ही स्व और अन्य रूपमें प्रकाश हैं। इनके समन्वयसे ही मनुष्यका जीवन उज्ज्वल होता है। मनुष्यके जीवनमें चिद्भाव स्पष्टरूपसे प्रकाशित होता है और प्रकाशित करता है। इन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं और विषय प्रकाशित होते हैं। सूर्य, चन्द्रमा आदि इनकी सहायता करते हैं। चित्त संस्कारोंका संग्रह करता है। बुद्धि उचित-अनुचितका विवेक करती है। इस प्रकार ज्ञानसे सम्बद्ध जितनी क्रिया-प्रक्रिया होती है—सब चिद्भावका ही विलास है। यह निश्चित है कि मनमें जितने संकल्प-विकल्प उठते हैं, वे विशेष ज्ञानके अनुरूप ही होते हैं। जिसको हम तुरीय सुख, हित, अनुकूल समझते हैं उसकी प्राप्तिके लिए और जिसको अप्रयोग, दुःख, अहित, प्रतिकूल समझते हैं उसके परिहारके लिए इच्छाएँ उदय होती हैं। इच्छाके अनुसार प्रयत्न होता है। इच्छाके तारतम्यसे ही प्रयत्नमें तीव्रता तथा मन्दता होती है। इसका अर्थ हुआ कि सम्पूर्ण कर्मकलापके मूलमें विशेष ज्ञान और समझदारी है। इस विशेष ज्ञानका शोध करनेके लिए शिक्षाकी आवश्यकता है। शिक्षाके लिए विद्यालय, पुस्तकालय, सत्सङ्ग, वाचनालय, पुस्तक, पत्रिका, रेडियो सभी साधनोंकी अपेक्षा है। इसके लिए प्रदर्शनकी भी अपेक्षा होती है। यदि उपयुक्त रीतिसे शिक्षा न दी जाय और विशेष ज्ञान ठीक-ठीक प्राप्त न हो तो मनुष्य पशुके समान रहता है। इस पशुत्वके निस्सारण और निवारणके लिए एक विशेष प्रकारका प्रशिक्षण अभीष्ट है। वह है पहलेसे विकार रूपमें आनेवाले दोषोंका संमार्जन और समाजकी समृद्धि, प्रगति, उन्नतिके अनुरूप गुणोंका आधान। संसारमें कई वस्तुएँ देखनेमें आती हैं जो घिसाई करनेपर चमक जाती हैं, बहुत-सी ऐसी होती हैं जिनपर बाहरसे रंग-रोगन करना पड़ता है। मनुष्यके मनकी भी यही दशा है। इसीसे शिक्षाका

ध्येय मनुष्यके अन्तस्तलमें विद्यमान स्वाभाविक चिद्भावको किसी विघ्न-बाधाके बिना विकसित करना है। जब बालकका जन्म होता है, उसके अन्दर एक अत्यन्त संकीर्ण देह-पदार्थमें अहंभाव उठता है। शिक्षाके द्वारा उसको परिवार-जाति-सम्प्रदाय, राष्ट्र-विश्व-ब्रह्माण्ड प्रकृति और परमात्मासे परिचित कराना पड़ता है। यदि शिक्षण प्राप्त करनेपर भी मनुष्यके संकुचित भावका निराकरण नहीं हुआ और अत्यन्त विस्तीर्ण देश-कालादिके बन्धनोंसे निर्मुक्त परम सत्यके ज्ञानकी ओर वृत्ति उन्मुख नहीं हुई तो वह शिक्षण सफल नहीं हुआ। शिक्षण अर्थात् विकारी और कृत्रिम जीवनसे मुक्ति पाकर सहज-सरल-स्वाभाविक जीवन-प्रणालीको हृदयंगम करनेकी कला। अध्याहार्य ज्ञानोंकी परतन्त्रता एवं प्रभावसे मुक्त होकर स्वरूपभूत स्वयंप्रकाश ज्ञानके समुल्लास-विकासकी प्रक्रिया। अपनेको आनन्दित रखनेके लिए वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों एवं परिस्थितियोंसे निरपेक्ष रहकर परमानन्दके अन्तरंग उत्सका प्रवाही-करण शिक्षा हमें वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों और परिस्थितियोंके परतन्त्र बना देती है—वह शिक्षण नहीं शिक्षणाभास है। शिक्षणके द्वारा सुषुप्तप्रतिभा-जागरण अनिवार्य है।

आनन्दभावके विकासके लिए निश्चित रूपसे कुछ श्रम और कुछ विश्रामका समन्वय करना पड़ता है। स्वास्थ्यके लिए आयुर्वेद, शत्रुओंकी पराजयके लिए शस्त्रास्त्र-विद्या, मनोरञ्जनके लिए संगीत-अभिनय-वाद्य, अपनी सुख-सुविधाके लिए मनोनुकूल आवास—यह सब अपेक्षित होनेपर भी ये सारी बातें बहिरंग हैं और इनका निरूपण उपवेदोंमें ही किया गया है। वेद सुखी जीवन बितानेके लिए लौकिक, पारलौकिक एवं दोनोंसे विलक्षण किसी अन्य प्रमाणसे अज्ञात उपायोंका निर्देश करता है और उनके

शोधन-बोधनके लिए प्रतिभाके प्रयोग-उपयोगकी दिशाका निर्देश करता है। लोक-व्यवहारमें लोग चार प्रकारसे सुखका अनुभव करते दिखायी पड़ते हैं। विषयभोगमें, धन, विद्या, तप, जाति, सम्बन्ध, बुद्धि आदिके अभिमानसे, सुखके मनोरथ एवं आशासे तथा जैसा अभ्यास पड़ जाता है उसी रीतिसे रहने-सहनेपर। ये चारों प्रकार लौकिक हैं और सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर मनोरथ-सुखके अन्तर्गत लोकमें ही पारलौकिक सुखका सन्निवेश हो जाता है। पारमार्थिक सुख साध्य नहीं, सिद्ध है; उसमें न धर्मके समान विरोध है, न योगके समान निरोध है, न उपासनाके समान अनुरोध है न जिज्ञासाके समान शोध है, वह तो केवल स्वतः-सिद्धरूप सुखका बोध ही बोध है। उसमें अनुकूल तथा प्रतिकूल विषयोंकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थितिका कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल बोध ही बोध है। शत्रु-मित्रकी विद्यमानता अथवा अविद्यमानता उसमें किसी प्रकारका विरोध उत्पन्न नहीं करती, वह सदा ज्योंका त्यों एकरस ही रहता है, जिस उपलब्धिमें विषय-विषयीभाव अत्यन्त उपेक्षित, तुच्छ एवं बाधितरूपसे भासते हैं वह उपलब्धि ही परमानन्द है और अपना स्वरूप है। वेदान्तका यह परम एवं चरम निर्देश ही उपनिषद् है। इसके द्वारा जन्म-मरण, गमनागमन, संकोच-विस्तार, आवर्तन-परिवर्तन तथा सभी प्रकारकी चिन्ताओंके भार सर्वदाके लिए सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, उनकी नित्य निवृत्तिका बोध हो जाता है। नेति-नेतिके द्वारा अशेष-विशेषका बोध होनेपर तत्त्वमस्यादि वाक्यके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है और बोध तो नित्यप्राप्त प्राप्त-सा होता है, नित्य निवृत्त दुःख ही निवृत्त-सा होता है। इसीको भारतीय वेद-विद्याने परम पुरुषार्थ बताया है।

●

धर्मके उपादान

धर्मका मूल सच्चिदानन्द **अद्वय** आत्मा ही है; क्योंकि औपनिषद-दृष्टिसे उसके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसीसे धर्म साधन तो है ही, सिद्धके जीवनमें भी अनुगत रहता है। उदाहरणके लिए पृथक्-पृथक् विचार कीजिये—

(१) **आत्मा सत् है**—इसका अर्थ है, वह है, रहता है और रहेगा। न मरा, न मर रहा है, न मरेगा। इस सिद्धान्तका फल यह निकलता है कि न हम मरें, न मारें, अर्थात् न अपनी मृत्युसे डरें और न दूसरेको डरायें। अपने लिए निर्भयता और दूसरेके लिए अभयदान—यह आत्मसत्ताके ज्ञानका प्रथम फल है।

आत्मसत्ताके ज्ञानका दूसरा फल यह है कि हम जीते आये हैं, जी रहे हैं और जियेंगे। अबतक यदि मृत्युने हमारा स्पर्श किया होता तो हम आज न होते। जीना सहज स्वभाव है और मरना आगन्तुक एवं कल्पित। इससे यह धर्म निकलता है कि हम जियें और जिलायें। इसका सार यह है कि सबको, जिसमें अपना आपा भी सम्मिलित है, अन्न, वस्त्र, आवास, औषध प्राप्त होना चाहिए। उन्हें उपार्जन करनेके लिए श्रम करना, असमर्थोंको प्राप्त कराना और अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य—जैसे चिन्तन, विद्या, समाधि एवं संरक्षणमें लगे लोगोंके भरण-पोषणकी व्यवस्था करना इसमें सम्मिलित है।

(२) **आत्मा चित् अर्थात् ज्ञानस्वरूप है**—इसका अर्थ यह है कि वह अज्ञानस्वरूप नहीं होता। सारी इन्द्रियों और वृत्तियोंका उपसंहार हो जानेपर भी, वह समाधि, मूर्च्छा, सुषुप्तिमें—उन-उन

अवस्थाओंको प्रकाशित करता रहता है। यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप न हो तो 'सुषुप्ति' नामकी कोई अवस्था होती है—यह किसीको ज्ञात न हो। 'मैं अज्ञ हूँ'—यह भी ज्ञात ही होता है। ऐसी वस्तु-स्थितिमें आत्माका अज्ञानके साथ कोई मेल नहीं है। इसमें-से यह धर्म निकलता है कि न हम अज्ञानी रहें और न किसीको अज्ञानी बनायें। नासमझ रहना, बेवकूफ बनना और ठगा जाना अधर्म है, साथ ही किसीकी नासमझीसे लाभ उठाना, किसीको बेवकूफ बनाना और ठगना भी अधर्म है। अपने ज्ञानस्वरूप होनेका पहला फल यही है।

अपने ज्ञानस्वरूप होनेका दूसरा फल यह है कि हम अन्तः-करण—व्यक्तिसे तादात्म्य करनेपर भी जानते हैं, जानते रहते हैं, और-और जानना चाहते हैं। इसका अर्थ है कि हमें ज्ञान-वृद्धिके लिए प्रयास करना चाहिए और दूसरोंके ज्ञानका संवर्द्धन भी करना चाहिए। अपने ज्ञानकी स्फुटता और सबके लिए ज्ञानका दान जीवके लिए सहज स्वभावप्राप्त धर्म है। पशु-पक्षी भी ज्ञान प्राप्त करते हैं और अपने बच्चोंको शिक्षा देते हैं। ऐसी स्थितिमें शिक्षण, प्रशिक्षण, विद्यादानकी व्यवस्था, पुस्तकालय, वाचनालय, सत्सङ्ग-सत्र आदिका आयोजन भी धर्म है अपने लिए और सबके लिए। विशेष-विशेष ज्ञान, अर्थात् विज्ञानकी उपलब्धियोंके लिए अनु-सन्धानशाला, प्रयोगशाला भी होनी चाहिए। अतीत ज्ञान अर्थात् ऐतिहासिक ज्ञानसे शिक्षा प्राप्त करना, वर्तमान परिस्थितिका ज्ञान रखना और भविष्यकी योजना बनाना भी धर्मका अङ्ग है। प्राणि-विज्ञान, समाज-विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र—सबका इसीमें समावेश है। निर्विशेष, निराकार शुद्ध तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। उससे बुद्धिका एकाङ्गी झुकाव दूर होता है।

विशेष ज्ञान, सामान्य ज्ञान और समन्वय-ज्ञानके बिना मनुष्यका जीवन सन्तुलित नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न विषयोंका ज्ञान तो कहीं भी प्राप्त हो सकता है, परन्तु जो निर्विषय ज्ञानका तात्त्विक रूप है, वह केवल वीतराग तत्त्वज्ञानी महात्माओंसे ही प्राप्त हो सकता है। उसके लिए व्यवस्था करना भी धर्म है। शरीरकी भीतरी वस्तुओंको जानना 'अध्यात्म-ज्ञान' है। ब्रह्माण्डकी संचालन-प्रक्रियाको समझना 'अधिदैव ज्ञान' है। भूतभौतिक वस्तुओंको समझना 'आधिभौतिक-ज्ञान' है। सबसे विलक्षण अद्वितीय आत्माको जानना 'परमार्थ-ज्ञान' है। आत्माके ज्ञानस्वरूप होनेके कारण सब कुछ जानना और उसके लिए सुविधा प्राप्त करना-कराना सहज धर्म है।

(३) **आत्मा आनन्दस्वरूप है**—यह बात अपने प्रति मुख्य-प्रियता अनवरत सिद्ध करती है। सब कुछ शेष है, आत्मा शेषी। हम दुःख पसन्द नहीं करते, नहीं चाहते। दूसरे भी दुःख पसन्द नहीं करते, नहीं चाहते। जैसे शरीरके भीतर एक काँटा गड़ जाय या आँखमें कोई बालकण पड़ जाय तो उस विजातीय द्रव्यको शरीर और आँख सहन नहीं करते हैं, उसी प्रकार आत्माके लिए दुःख एक विजातीय द्रव्य है और शक्तिभर उसके निवारणके लिए प्रयत्न भी किया जाता है। कपने आनन्दस्वरूप होनेसे यह धर्म निकलता है कि हम कभी, कहीं, किसी कारणसे दुखी न हों और दूसरेमें दुखीपनेका अभिमान जाग्रत् न करें। हम दुखी हैं या तुम दुखी हो—ये दोनों ही बातें आत्मामें विजातीय द्रव्यका आरोप करके कही जाती हैं। अतः दुखी होना और दुखी बनाना—दोनों ही अधर्म हैं और हमारे आत्माके स्वभावके प्रतिकूल है। आनन्द-स्वरूप आत्माका यह प्रथम धर्म है।

आनन्दस्वरूप आत्माका दूसरा धर्म यह निकलता है कि वह सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा हर हालमें सुखी रहे और दूसरोंको सुखी रक्खे। हम सुखी रहना चाहते हैं, सब सुखी रहना चाहते हैं। जैसे सुख मिले, वैसे सुखी हों—ज्ञानसे, ध्यानसे, विश्रामसे, भगवत्प्रेमसे, धर्माचरणसे, नृत्यसे, नाट्यसे, गानसे, वाद्यसे, अभिनयसे, त्यागसे, संग्रहसे—कैसे भी मनुष्यको सुख प्राप्त होना चाहिए। सुख पाना धर्म है, सुख देना धर्म है। वह जितना नित्य होगा, जितना अनायास होगा, जितना ही दूसरोंको दुःख पहुँचाये बिना होगा, जितना व्यापक होगा और जितना अन्यनिरपेक्ष होगा, उतना ही श्रेष्ठ होगा। सुखमें और उसके साधनमें जितना-जितना आत्माका सामीप्य होता है, उतना-उतना स्थायित्व और सूक्ष्मता होती है। अपने-अपने सम्प्रदायमें जो लोग सुखका जो-जो आकार बना लेते हैं, उन्हें उसीमें सुखी होने देना चाहिए। उसमें बाधा डालनेका कोई कारण नहीं है। भले ही वह कल्पना हो, भाव हो, चेष्टा हो, कर्म हो, सम्बन्ध हो या द्रव्य हो। वस्तुतः सुख अपना स्वरूप है और जिसपर हम अपने मनका हाथ लगा देते हैं, वही सुखरूप हो जाता है। सभी प्राणियोंका, कीट-पतङ्गोंका भी अपना-अपना सुख है; उसमें बाधा न डालना, सुविधा उत्पन्न करना धर्म है।

(४) आत्मा अद्वय है—इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि भेद-भाव करना और कराना अज्ञान-मूलक भ्रान्ति है। इस भ्रान्तिके कारण अपना-पराया, ऊँच-नीच, शत्रु-मित्र, राग-द्वेष, वैमनस्य-सङ्घर्ष, कलह एवं युद्धकी सृष्टि होती है। इसी द्वैत-भ्रमके वशीभूत होकर सच्चे ज्ञानका आदर न करके अर्वाचीन-प्राचीनका झगड़ा खड़ा कर देते हैं। झूठी भौगोलिक सीमाएँ खींच-खींचकर प्रान्त, राष्ट्र, द्वीप आदि बना लेते हैं और उनके लिए लड़ते हैं।

जातीयता, वर्गवाद, प्रान्तीयता, भाषाभेद—सब इसीको देन है। आत्मसत्य अद्वय है। इसमें द्वैतभ्रम मिटानेके लिए साधनके रूपमें द्वैतको स्वीकार करना दूसरी बात है और द्वैत, दुःख, मूर्खता एवं भयको बढ़ाना दूसरी बात। स्वयं भेद-भ्रान्तिमें फँसकर इन दुःखोंको बढ़ाना अधर्म है और दूसरोंको इसके लिए बढ़ावा देना भी अधर्म है। आत्माके अद्वय होनेका प्रथम निष्कर्ष यह है कि स्वयं भेद-भावसे मुक्त रहकर दूसरोंको भी भेद-भावमें न डाले।

आत्माकी अद्वयताका दूसरा निष्कर्ष यह है कि अपने आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है, अर्थात् सब अपना आत्मा ही है। अपने आत्माके रूपमें भासनेवाली वस्तुमें जितना प्रेमभाव, आत्मरूपता और आत्मीयता रहती है, उतनी ही पराये रूपमें भासनेवालोंके प्रति भी होनी चाहिए। अपने हृदयमें सबके प्रति प्रीति रहे और दूसरोंके हृदयमें मेल-मिलाप, आत्मीयताकी वृद्धि हो—यही मनुष्यका धर्म है। इस अद्वयतामें नासमझी, अभिमान, राग-द्वेष, भय—सबकी निवृत्ति हो जाती है। इसका व्यावहारिक पक्ष यह है कि जैसे अपने प्रति की हुई चोरी, हिंसा आदि बुरी लगती है और स्तुति, सम्मान आदि अच्छे लगते हैं, वैसे ही दूसरे शरीरमें बैठे हुए आत्मदेवको लगते हैं। इसीसे दूसरेके प्रति जो व्यवहार किया जायगा, वह अपने प्रति भी हो जायगा; क्योंकि आत्मा तो एक ही है।

यह सामान्य धर्मका आधार है। यही आत्मा विशेष धर्मका आधार कैसे बनता है? इसके लिए पृथक् विचार करना उचित होगा।

●

धर्म-प्रेरणाके स्रोत

जैसे वायुका धर्म गति और अग्निका धर्म दाह है, वैसे ही मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व है। मनुष्य-शरीरमें मज्जागत एक विशेषता है, रक्तगत एक वीर्यवत्ता है, चित्तगत एक संस्कार है, बुद्धिगत एक विचारधारा है, स्वभावगत एक रसप्रवाह है, आत्मगत एक अनुवृत्ति-व्यावृत्तिका बोध है। वस्तुतः मनुष्य धर्म छोड़कर जीवित नहीं रह सकता। भिन्न-भिन्न वस्तुओंके चिन्तनमें लगे रहनेके कारण मनुष्य आत्मनिरीक्षण नहीं कर पाता। आप थोड़ी देरके लिए स्वस्थचित्तसे अपने धर्मके सम्बन्धमें चिन्तन कीजिये। आपको धर्म-प्रेरणा कहाँसे प्राप्त होती है?

१. क्या आपको ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर धर्मके लिए प्रेरित करता है? वह प्रेरणा किस प्रकारकी होती है? क्या उसका रूप कुछ ऐसा होता है कि तुम अपने मन एवं इन्द्रियको इस कर्मसे, भोगसे, संग्रहसे और भाषणसे अलग रक्खो? इस निषेधात्मक प्रेरणाका बड़ा महत्त्व है। आप इसपर गम्भीरतासे ध्यान दीजिये। अथवा ईश्वरसे इस प्रकारकी प्रेरणा मिलती है कि इस प्रकारका कर्म, भोग, संग्रह और भाषण करो? प्रवर्तक प्रेरणामें धर्मको पहचानना कठिन है। क्या आप अज्ञानियोंको ज्ञान, कंगालोंको अन्न-वस्त्र, रोगियोंको औषध देनेकी प्रेरणा ग्रहण करके उसके अनुसार आचरण करते हैं?

२. क्या आप ईश्वरकी प्रेरणा और पूर्वसंस्कारोंकी प्रेरणामें भेद कर सकते हैं? पूर्वसंस्कार अच्छे-बुरे दोनों प्रकारके होते हैं। उनसे समय-समयपर दोनों प्रकारकी प्रेरणा भी प्राप्त होती है। यदि आप

पूर्वसंस्कारोंके द्वारा ही अपने जीवनको संचालित करेंगे तो आपका अन्तर्द्वन्द्व कभी मिट नहीं सकेगा। अनादि कर्म-प्रवाहसे उत्पन्न संस्कार और उनसे बना हुआ स्वभाव समुद्रके बाह्य-आभ्यन्तर दबाव और उथल-पुथलके समान परस्पर संघर्षरत रहते हैं। इनपर अपने जीवनको छोड़ा नहीं जा सकता। हाँ, इनसे ईश्वरकी प्रेरणाको पृथक् करना विशिष्ट अन्तर्दृष्टिके बिना सम्भव नहीं है।

ईश्वरकी तटस्थता एवं असंगतापर दृष्टि डाली जाय तो वह कोई स्वैच्छिक, स्वतन्त्र एवं नवीन प्रेरणा नहीं दे सकता। वह आपके अन्तःकरणकी उपाधिको अपने सान्निध्य मात्रसे आभासित और सञ्चालित करता है। ऐसी स्थितिमें ईश्वरका नियमन भी पूर्वसंस्कारानुसार ही मानना पड़ेगा। तब फिर हमें गम्भीरतासे यह देखना होगा कि जब हम पूर्वसंस्कार अथवा उसकी उपाधि स्वीकार करके ईश्वरके द्वारा संचालित होते हैं तो हम सदा उनके द्वारा नियन्त्रित कठपुतली ही बने रहेंगे; कर्म-चक्रसे मुक्त नहीं हो सकते। हमें कुछ नवीन कर्म करने होंगे, जो अनादिकालसे अनवरत प्रवाहित कर्म-धाराको नया मोड़ दे और हमारी यात्राको मुक्तिके लिए उन्मुख करे। कम-से-कम वह ऐसा तो होना ही चाहिए जो स्थूल देह और उसके सम्बन्धोंको शिथिल करके सूक्ष्म शरीरको प्रधानता दे। परलोक, आन्तर रसास्वादन, समाधि अथवा शुद्धिकी भावना जाग्रत् करके सत्य तत्त्वकी जिज्ञासाकी ओर ले जाय। इसके लिए नवीन क्रिया-कलापकी प्रेरणा क्या आप पूर्वसंस्कारों-पर छोड़ देते हैं। अथवा इसके लिए कोई नवीन स्रोत ढूँढते हैं?

३. आपका धर्म आपके अस्तित्व, ज्ञान, आनन्द, नियन्त्रण-शक्ति और समन्वय-भावनाकी रक्षाके लिए होना चाहिए।

धारणाके अभिप्रायसे 'धर्म' शब्दके प्रयोगका यही अर्थ है। इसके लिए सामाजिक परिस्थितिसे प्रेरणा लेनेपर सुधार-भावनाका जन्म होता है। भौगोलिक परिस्थितिसे विचार करनेपर राष्ट्रीयता परिपक्व होती है। ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे देखनेपर संस्कृति-प्रेमका जन्म होता है। आचार्य-परम्परापर ध्यान देनेसे सम्प्रदाय-मर्यादा जुड़ती है। मूल पुरुषकी प्रधानतासे जातीयता आती है। श्रम और अर्थकी प्रधानतासे विचार करनेपर वर्ग-विशेषसे तादात्म्य होता है। ऐसे अनेक बाह्य कारण हो सकते हैं, जिससे आप धर्मकी प्रेरणा ग्रहण करते हों, परन्तु ये सब-की-सब दृष्टियाँ अधूरी हैं और धर्मके केवल तात्कालिक एवं एकांगी रूपका परिचय देती हैं। कभी-कभी ये परस्पर संघर्ष करती हैं और धर्मके नामपर अधर्मको ही अभिव्यक्ति देती हैं। दृष्टिविशेषमें आविष्ट पुरुष तमसावृत होकर अधर्मको ही धर्म मानने लगता है। उससे अपने ही प्रयोजनका गला घुट जाता है। इनमेंसे किसी एकमें आपकी प्रियता आपको अपने प्रति पक्षपाती और दूसरोंके प्रति क्रूर बनाती है। क्या आप इनसे मुक्त रहकर धर्मका सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील हैं ?

४. क्या आप वस्तुके गुणावगुण और क्रिया-कलापके द्वारा निष्पन्न होनेवाले परिणामों पर अन्वय-व्यतिरेककी दृष्टिसे विवेक करके धर्माधर्मका निर्माण करते हैं ? द्रव्यके गुणावगुणका विवेक केवल साधारण दृष्टिसे रासायनिक प्रक्रियाके द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके लिए देश, काल, जाति, व्यक्ति, मान्यता, अवस्था, स्थिति, शक्ति, वय आदिका सम्पूर्ण ज्ञान अपेक्षित होता है। कब, कहाँ, किसके लिए, किस परिस्थितिमें क्या हितकारी है ? यह सर्वज्ञ ईश्वरके अतिरिक्त और कौन जान सकता है ? रही बात

क्रियाकलापकी, सो समग्र मानव-जातिके लिए सार्वकालिक एवं सार्वभौम उदार दृष्टिसे विचार करनेका दावा कौन कर सकता है? अनुदीर्ण और संकीर्ण दृष्टि होनेपर अपने ग्रन्थ और पन्थका बोल-बाला हो जाता है और अपनी डफली और अपना राग बजने लगता है। द्रव्यके गुणावगुण और क्रियाकलापके परिणामोंका लौकिक सम्बन्ध यथाकथंचित् ज्ञात भी हो जाय तो पारलौकिक सम्बन्ध ज्ञात करनेका कोई उपाय नहीं है। इसलिए यदि आप केवल अपनी बुद्धि और विवेकके द्वारा धर्मकी प्रेरणा प्राप्त करते हैं तो आप पुर्नविचार कीजिये—आपका युक्तिवाद भुक्तिका हेतु हो सकता है, मुक्तिका नहीं। क्या बालक, वृद्ध और मूर्खजन भी इस युक्तिसे धर्म-प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं? यदि नहीं, तो धर्मके उद्गम-स्थानको और भी गहराईमें ढूँढना आवश्यक है। धर्मके प्रेरक तत्त्व इतने उथले स्तरपर नहीं रहा करते।

५. क्या आप ऐन्द्रियक ज्ञान एवं मानसिक संवेदनोंसे अपने चित्तमें जो अनुभव-संस्कार एकत्र करते हैं और उनके आधारपर जो अनुमानाभास और उनके बच्चे-कच्चे वंश-वृद्धि करते हैं, वे धर्मका साक्षात्कार करनेके लिये पर्याप्त प्रामाणिक हैं? यदि धर्मका लौकिक प्रत्यक्ष हो जाता और उसके आधारपर होनेवाले अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति अथवा अनुपलब्धिके द्वारा हम उसको देख पाते तो क्या सृष्टिमें धर्मके सम्बन्धमें इतने मतभेद और संघर्षोंकी सृष्टि हो पाती? श्रम वस्तुशोधनके लिए होता है। धर्म अधिकारी-शोधनके लिए होता है। जड़ताकी प्रधानतासे श्रम और चैतन्यकी ओर उन्मुखतासे धर्म। प्रत्यक्षादि प्रमाण बाह्यदर्शी होते हैं। धर्म अन्तरंग वस्तु है। वह अन्तःकरणको दोषमुक्त और अन्तर्मुख करता है। आत्मा अथवा परमात्मामें स्थित करनेवाला परमधर्म

है—योग अथवा भक्ति। परन्तु आत्मा-परमात्माके ऐक्यका बोध-किसी धर्मका परिणाम नहीं है। धर्म-संस्कारके द्वारा केवल विकार-की निवृत्ति-मात्र होती है। ऐक्यका बोध तो चरम एवं परम प्रमाणका विषय है। ऐसी स्थितिमें यदि आप ऐन्द्रियक अथवा मानसिक संवेदनोंको प्रेरक मानकर धर्मका निर्णय करते हैं तो क्या आप सच्चे धर्मका निर्णय कर सकेंगे? क्या आपके इन्द्रिय और मन प्राकृत विकार एवं संकोर्ण संस्कारसे मुक्त हैं?

६. प्राकृत वस्तुओंके अनुकरण-कौशलके उत्कर्षसे कलाका विकास होता है, उनपर आधिपत्य प्राप्त करके उपयोगी बनानेकी प्रक्रियासे विज्ञानका। बाह्य पदार्थोंके परिवर्तन, प्रवर्तन अथवा संशोधनके लिए श्रमकी अपेक्षा होती है, परन्तु धर्म वह काम करता है जो इनमें किसीके द्वारा सम्पन्न नहीं होता। उसका काम है—अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञाताके प्रकाशित होनेके मार्गमें जो प्रतिबन्ध हैं, उनको दूर करना। विशेष करके अन्तःकरणसे मलिन वासनाओंको निकाल देना और उसको एक विशेष आकारमें पहुँचाना धर्मका काम है। ऐसी स्थितिमें धर्मकी प्रेरणाके लिए अज्ञात ज्ञापक, शासनात्मक, वासना-प्रतिरोधी, बाह्य-क्रियात्मक स्रोतकी अपेक्षा है। फल मिलनेपर धर्मका पता चलनेसे केवल आगेके लिए अनुभव संग्रह किया जा सकता है या अमुक प्रकारकी वृत्तिसे जो उत्पन्न अदृष्ट या अपूर्व होगा, पता नहीं, वह कब हमारे काम आयेगा? वस्तुतः धर्म ऐसा होना चाहिए कि हम अपनी क्रिया और भावके द्वारा इसी समय, इसी स्थानमें, किसी वस्तुका ठीक-ठीक सदुपयोग कर सकें। जैसे, अकालके समय दुर्भिक्ष-पीड़ित स्थानमें क्षुधा-पीड़ित जनताको अपने हाथसे उठाकर हम कुछ अन्न-धन दे सकें। यदि धर्मका ऐसा रूप नहीं होगा तो वह किसी

मनुष्यके द्वारा कैसे अनुष्ठित होगा ? और यदि अनुष्ठित नहीं हो सकेगा तो धर्मका अर्थ ही क्या ? इसको प्राचीन भाषामें यों कहा जा सकता है कि पुण्यकालमें यज्ञशालाके अन्दर यज्ञ करानेवाले ऋत्विजको जब दक्षिणा दी जायगी, तब धर्म होगा। धर्मका रूप सर्वथा दृष्ट होना चाहिए, उससे अदृष्टकी उत्पत्ति हो या दृष्ट फल मिले। उसके लिए चाहिए—अधिकारी, श्रद्धा, विधानक्रिया, सम्पत्ति, सहायक और समग्रता आदि।

अब किस नियम, व्रत, दान, आदान, स्नान, कर्मको धर्म कहा जाय—यह बात वासनानुसार नहीं, शासनानुसार ही निश्चित करनी पड़ेगी। उस शासनका जो शाश्वत, सार्वभौम, मौलिकरूप है उसे 'शास्त्र' कहते हैं। वह देश, काल, वस्तु, क्रिया, पुरुष, अन्तःकरण आदिकी उत्पत्तिके पूर्वसे ही बीज रूपमें रहता है और रूपव्याकृतिके साथ ही उसकी नामव्याकृति भी होती है। जो ईश्वर सृष्टिका निर्माता है पूर्व कल्पनानुसार, वही शास्त्रका भी निर्माता है। दोनोंका ही वह प्रकाशक-मात्र है। करण-निबन्धन-कर्तृत्व उसमें नहीं है। क्या आप किसी ऐसे शास्त्रको मान्यता देते हैं ? उसके विज्ञानको समझानेका प्रयत्न करते हैं ? यदि नहीं, तो आप अपनेको तत्त्वज्ञान और धर्मके मार्गसे कहीं विमुख तो नहीं कर रहे हैं ? ज्ञानात्माके शुद्ध स्वरूपको संकेतित करनेवाली यह शास्त्र-प्रक्रिया आपकी धर्म-प्रेरणाका स्रोत क्यों नहीं बनती ? जहाँ वासनानुसारिणी बुद्धि आपको बहिर्मुख बनाती है वहाँ शासनानुसारिणी बुद्धि अन्तर्मुखी करेगी। धर्मानुष्ठान करना तो अलग, इस धर्मानुशासनको हृदयंगम करनेका प्रयत्न भी आपको धर्मात्मा होनेकी प्रेरणा देगा।

●

धर्मके लक्षण

किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिए लक्षण और प्रमाण—दोनोंकी आवश्यकता होती है। प्रमाण प्रमातामें रहकर वस्तुकी पहचान कराता है और लक्षण लक्ष्य वस्तुमें रहकर औरोंसे उसको अलग दिखाता है। जैसे आँखरूप-प्रमाण मनुष्यके पास रहता है और गायका लक्षण 'गलेमें ललरी होना' उसके शरीरमें होता है। महा-

वाक्यजन्य-वृत्ति मनुष्यके अन्तःकरणमें होती है और सत्य, ज्ञानादि ब्रह्ममें रहते हैं। किसी भी वस्तुमें लक्षण वह होता है जो उसके सिवाय दूसरी वस्तुमें न हो। प्रमाण भी वही होता है जो अन्य प्रमाणसे अनधिगत और अबाधित अर्थका ज्ञान कराये। धर्म एक अतीन्द्रिय पदार्थ है; इसलिए पहले हम इसके लक्षणपर ही विचार करते हैं।

१. नास्तिक दर्शनोंमें सर्वप्रथम चार्वाक दर्शनकी ही गणना होती है। उसके मतमें देहातिरिक्त आत्माका अस्तित्व नहीं है। प्रत्यक्षके अतिरिक्त कोई प्रमाण भी नहीं है। अतः उसके लिए स्वाभाविक है कि लौकिक जीवनमें अर्थ-संग्रह, भोग-वैशिष्ट्य, आधिपत्य, यश, उत्कर्ष आदि प्राप्त करना ही कर्मका लक्ष्य हो सकता है। इसलिए वह पुनर्जन्मवादी और परलोकवादी जिस अर्थमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग करते हैं वह उसके लिए नहीं हो सकता। वह यदि परिच्छिन्न स्वार्थसे ऊपर उठकर कोई कर्म करता भी है तो भी उसका उद्देश्य लौकिक ही होता है। उस लौकिक कर्मका उद्देश्य भी देहतक ही सीमित होता है। उसकी दृष्टिमें 'धर्म' लौकिक जीविकाका साधनमात्र है। उससे मनुष्यके मनमें अन्धविश्वास, भय, परावलम्बन तथा झूठी आशाका जन्म होता है। इसलिए यदि हम बलात् उसके सिरपर धर्मका आरोप करें तो यह कहना पड़ेगा कि व्यक्तित्वका जिस कर्मसे लौकिक उत्कर्ष सिद्ध हो, वही 'धर्म' है।

जैन-सम्प्रदायमें देहातिरिक्त आत्माको स्वीकार करते हैं। पुनर्जन्म और परलोक भी मानते हैं। प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान और अपने आगमोंको भी स्वीकार करते हैं। इन्होंने धर्मका एक सूक्ष्म

पदार्थके रूपमें अध्ययन किया है। ये कहते हैं कि धर्मके परमाणु होते हैं। पुण्य-विशेषके अनुष्ठानसे उनका निर्माण होता है। जैन-सम्प्रदायमें उन्हें पुद्गल कहते हैं। उनके द्वारा धर्मात्माके शरीरकी रचना होती है और वह सुख, संयम-प्रधान होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि **पुण्यविशेषसे निर्मित देहारम्भक 'पुद्गल' नामक परमाणुओंको ही 'धर्म' कहते हैं।** पुण्य ही धर्म नहीं है, उससे उत्पन्न परमाणु धर्म है। इससे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें पुण्य-कर्म करना चाहिए।

बौद्ध-सम्प्रदायमें 'धर्म' शब्द बहुत ही व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। उनके मतमें आत्मा, विज्ञान—सब क्षणिक हैं। और अन्ततः सबका उच्छेद—शून्यता ही निर्वाण है। पाँचों स्कन्धोंको ही वे धर्म कहते हैं। प्रचलित भाषामें कहना हो तो व्यवहारमें अहिंसा और निर्वाण-प्राप्तिके उपायमात्रको धर्म कहते हैं। उत्तर ज्ञानमें जो पूर्व ज्ञानकी वासना आती है उसको धर्म कहते हैं। ज्ञान क्षणिक हैं। वे जब नष्ट होते हैं तब अपनी एक वासना छोड़ जाते हैं। वह भी ज्ञानके साथ बदलती ही रहती है। हमारे इस विज्ञान-सन्तान-परम्परात्मक जीवनमें जो आर्य-सत्यके—ज्ञानके अनुसार अर्थात् बुद्धके अनुभवके अनुसार वासनाएं उत्पन्न होती हैं वही धर्म हैं। दुःख, क्षणिकता, स्वलक्षण और शून्य—ये चारों आर्य सत्य हैं। **जब इनके अनुभवके अनुकूल ज्ञान-धारा प्रवाहित होने लगती है, तब उसको 'धर्म' कहते हैं।**

२. न्यायदर्शनके प्रणेता गौतमके मतमें धर्म आत्माका एक विशेष गुण है। वह विहित कर्मसे अथवा शुभ प्रवृत्तिसे उत्पन्न होता है। उसे अदृष्ट भी कहते हैं। मनुष्यके जीवनमें दोष-मूलक

प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं। कहीं राग नचाता है तो कहीं क्रोध उद्दण्ड बना देता है, तो कहीं मोह बाँध देता है। इनके कारण मनुष्य संसारकी वस्तुओंमें फँस जाता है और अन्धा, क्रूर तथा पक्षपाती हो जाता है। यही अधर्मका मूल है। जब मनुष्य इनसे बचकर ऐसे कर्म करने लगता है जिनसे वह कायिक, वाचिक एवं मानसिक दस प्रकारके पापोंसे बचकर दस प्रकारके धर्मके अनुष्ठानमें लग जाय तो वह नीचे न जाकर ऊर्ध्व गतिको प्राप्त हो और अविद्यासे मुक्त होकर जन्म और दुःखसे भी सर्वदाके लिए छूट जाय। वे दस पाप ये हैं जिनसे मनुष्य धर्म-विमुख हो जाता है—

१. मुझे दूसरेका धन कैसे मिल जायगा—ऐसा चिन्तन।

२. मनसे निषिद्ध कर्म करनेकी आकांक्षा।

३. नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्म, जीव-ईश्वरको कौन जानता है। यह देह ही सब कुछ है—ऐसा मान बैठना।

४. कठोर बोलना।

५. मिथ्या भाषण करना।

६. दूसरेकी निन्दा करना।

७. निष्प्रयोजन वार्ता करना।

८. बिना दिये किसीकी वस्तु ले लेना।

९. तन, मन और कर्मसे किसीको दुःख पहुँचाना।

१०. परस्त्री और परपुरुषके साथ सम्बन्ध होना।

इन दसोंका परित्याग कर देनेपर वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है। वृत्तिका आत्म-सामीप्य ही धर्मकी उत्कृष्ट अवस्था है।

३. वैशेषिक दर्शनके प्रणेता महर्षि कणादका मत है कि **जिस कर्मसे मनुष्य इस लोकमें अभ्युदय और अन्तमें निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है, उसका नाम धर्म है।** महर्षिने ऐहलौकिक उन्नतिको धर्मके साथ जोड़कर लोकका बहुत बड़ा कल्याण किया है। वस्तुतः धर्म केवल अगला जन्म सुधारनेके लिए, स्वर्गमें पहुँचानेके लिए, ईश्वरकी प्राप्तिके लिए अथवा अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा ब्रह्मानुभूतिके लिए उपयोगी हो—ऐसी बात नहीं है। धर्मात्मा पुरुषपर प्रजाका विश्वास बढ़ता है। इसलिए लोग उसपर विश्वास करते हैं और उसका आश्रय लेते हैं। '**लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।**' व्यापारी जब लोगोंका विश्वासपात्र होता है तब उसका व्यापार चलता है। जब लोग जान जाते हैं कि यह झूठा, ठग, बेईमान है तब उससे व्यवहार करनेमें डरते हैं। इसका अर्थ हुआ कि धर्मात्माको अर्थकी प्राप्ति होती है। धर्मात्मा पुरुष संयमके द्वारा काम-भोगको नियममें रखकर स्वयं अपने शरीर और मनको स्वस्थ रखता है। दीर्घकालतक भोग भोगता है और दूसरोंको हानि नहीं पहुँचाता। पदार्थोंके धर्मकी परीक्षामें प्रविष्ट होकर कणादने मनुष्य-धर्मकी भी उत्कृष्ट रूपरेखा बता दी है। जैसे धर्मके बिना पदार्थका पदार्थत्व नष्ट हो जाता है; इसी प्रकार धर्म-बिना मनुष्यका मनुष्यत्व ही नष्ट हो जाता है। धर्मसे सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

४. सांख्यप्रणेता कपिलने **सत्कर्मजन्य अन्तःकरणकी एक विशेष वृत्तिको धर्म माना है।** बात यह है कि वस्तुतः असंग आत्मा अविवेकके कारण प्रकृति-प्राकृत पदार्थोंमें 'अहं', 'मम' (मैं-मेरा) करके बद्ध हो गया है। विवेक-ख्यातिके बिना यह त्रिगुणमयी प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। विवेकका उदय होता है—सत्त्वगुणकी स्थितिमें। जिस शारीरिक, मानसिक

अथवा बौद्धिक कर्मके द्वारा अन्तःकरणमें वैराग्य, शान्ति आदिका उदय हो और विवेकका प्रकाश हो, उसीको धर्म कहते हैं। थोड़े शब्दोंमें, यह कह सकते हैं कि प्रकृतिके विकार-विलाससे अनासक्त करके पुरुषको अपने स्वरूप-बोधके अनुकूल अन्तःकरणको निर्मित करनेवाला कर्म ही धर्म है।

५. योगाचार्य पतञ्जलिके मतमें, वृत्तिको क्लेशानुवेधसे बचाकर, समाधिके उपयुक्त बनाने और पुरुषको निरोधोन्मुख करके स्वरूपावस्थित करनेमें सहायक जो कर्म हैं—उसे धर्म कहते हैं।

योगदर्शनके मतमें मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है। सब वृत्तियोंका यही आधार है। सब कर्मोंके संस्कार भी अन्तःकरणमें ही सञ्चित होते हैं। वृत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—क्लेशयुक्त, जिन्हें 'क्लिष्ट' कहते हैं और क्लेशरहित, जिन्हें 'अक्लिष्ट' कहते हैं। क्लेश पाँच प्रकारके होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जो साधन या कर्म—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अक्लिष्ट वृत्तिके पोषक हैं, वे पुरुष-ख्याति और कैवल्यके अनुरूप हैं। इस मतमें उन्हें ही धर्म माना जाता है। उनमें शौच, तपस्या, ईश्वरप्रणिधान, मैत्री मुदिता, आदिकी परिगणना है। योगदर्शनके मतसे निरोधानुकूल अनुष्ठेय कर्म ही धर्म है।

६. पूर्वमीमांसाके प्रणेता जैमिनिके मतमें धर्म उसे कहते हैं जिसे वेदने हमारे कल्याणके साधनके रूपमें वर्णन किया है, वह यागादि-रूप क्रिया-कलाप। वेदमें यज्ञ-यागादिको ही धर्म

कहा गया है। अन्यत्र भी अनुष्ठेय-रूपमें धर्मका वर्णन मिलता है। उपनिषद् 'धर्म करो'—ऐसी आज्ञा देते हैं। हमारे प्राचीन महर्षि कहते हैं कि 'यं त्वार्य्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः यं गर्हन्ते सोऽधर्म इति।' इससे भी धर्म वेदविहित क्रिया-रूप ही सिद्ध होता है। कुमारिल भट्टने विभिन्न आचार्योंके द्वारा परिभाषित धर्मका उल्लेख करके उनका खण्डन भी किया है।

अन्तःकरणवृत्त्यादौ वासनायां च चेतसः।
पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि॥

साथ ही—

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता॥

पूर्वमीमांसाके एकदेशियोंका मत है कि यागादिके अनुष्ठानसे जो अपूर्वकी उत्पत्ति होती है उसको धर्म कहते हैं; क्योंकि कर्मानुष्ठान और फलप्राप्तिके बीचमें जो व्यवधान होता है उसमें अपूर्वके रूपमें विद्यमान धर्म ही फल उत्पन्न करता है।

७. वेदान्त-दर्शनके प्रणेता व्यासके मतमें—अन्तःकरणकी शुद्धिके साधक कर्मको ही धर्म कहते हैं। धर्मानुष्ठानसे उच्छृङ्खल कर्मपर नियन्त्रण स्थापित होता है। वासनाएँ मर्यादित होती हैं। वेद-वचनपर श्रद्धा होती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी मीमांसासे विवेक-शक्ति बढ़ती है। देहातिरिक्त आत्माकी ओर ध्यान जाता है। धर्मके द्वारा आराध्य दैवी शक्तियोंका ज्ञान होता है। धर्मके न्यूनाधिक्यके अनुसार पितृलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक, आदिका विचार होता है।

फलदाता ईश्वर है—इसपर विश्वास होता है। धर्मका निष्काम अनुष्ठान करनेपर निष्कामताकी प्रतिष्ठा होती है। वस्तुतः अन्तः-करणका जागरूक रहकर निष्काम होना ही उसकी शुद्धि है। शुद्धिसे वैराग्य और जागरूकतासे विवेकका उदय होता है।

व्यासाचार्यने लोकहितकारी कर्मको भी धर्म कहा है। उनका अभिमत है कि प्रबुद्ध पुरुष अन्वय-व्यतिरेक दृष्टिसे हिताहितका विचार करके जो कर्म करता है वह लोककल्याणकारी होता है। इस प्रकारके धर्म-विचारमें साधारण मनुष्यका अधिकार नहीं है। क्योंकि वह अपने विवेकको वासनाओंसे अभिभूत कर देता है। इस-लिए इस सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिए कि किसी निषिद्ध कर्मको लोकहितकारी न समझ लिया जाय।

८. धर्माचार्य मनुने जीवनमें दस पदार्थोंके धारणको धर्म कहा है।

१. **धृति**—धनादिका नाश होनेपर चित्तमें धैर्य बना रहना (—मेधातिथि)। प्रारम्भ किये हुए कर्ममें बाधा और दुःख आनेपर भी उद्विग्न न होना (—सर्वज्ञ नारायण)। सन्तोष रखना (—कुल्लूक भट्ट एवं गोविन्दराज)। अपने धर्मसे स्खलित न होना (—राघवा-नन्द)। अपने धर्मको कभी न छोड़ना (—नन्दन)। अनुद्विग्न भावसे कर्तव्यका पालन (—रामचन्द्र)।

२. **क्षमा**—दूसरेके अपराधको सह लेना (—मे० ति० तथा गो० रा०) क्रोधोत्पत्तिके कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध न करना (—स० ना०)। किसीके उपकार करनेपर बदला न लेना (—कु०)। द्वन्द्वसहिष्णुता (—राघवानन्द)। अपमान सह लेना (—नन्दन)। शान्ति (—राम०)।

३. दम—उद्दण्ड न होना। तपस्या करनेमें जो क्लेश हो उसे सह लेना। विकारके कारण उपस्थित रहनेपर भी मनको निर्विकार रखना। मनको रोक रखना। मनको मनमानी न करने देना। द्वन्द्वसहिष्णु होना।

४. अस्तेय—दूसरेकी वस्तुमें स्पृहा न होना। अन्यायसे पर-धनादिका ग्रहण न करना। परद्रव्यको न लेना।

५. शौच-आहारादिकी पवित्रता। स्नान-मृत्तिकादिसे शरीरको शुद्ध रखना। शास्त्रकी रीतिसे शरीरको शुद्ध रखना। बाह्याभ्यन्तर-पवित्रता।

६. इन्द्रियनिग्रह—इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न करना। नेत्रादि इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे अलग रखना। जितेन्द्रिय होना।

७. धी—भलीभाँति समझना। प्रतिपक्षके संशयको दूर कर सकना। आत्मोपासना। शास्त्रके तात्पर्यको समझना। बुद्धिका अप्रतिहत होना।

८. विद्या—आत्मानात्मविषयक विचार। बहुश्रुत होना, आत्मोपासना।

९. सत्य—मिथ्या और अहितकारी वचन न बोलना। यथार्थ बोलना। अपनी जानकारीके अनुसार ठीक बोलना।

१०. अक्रोध—क्षमा करनेपर भी कोई अपकार करे, तब भी क्रोध न करना। दैववश क्रोध उत्पन्न होनेपर उसको रोकनेका

प्रयत्न। क्रोधका कारण होनेपर भी क्रोध न होना। अपने मनोरथमें बाधा डालनेवालोंके प्रति भी चित्तका निर्विकार रहना।

किसी-किसी पुस्तकमें धीके स्थानपर ह्रीका उल्लेख है। उसका अर्थ है कि अकर्तव्यसे निवृत्त करनेवाला ज्ञान-विशेष। निषिद्ध कर्म करनेमें लज्जा आना। अपनेको अकर्त्तव्यसे बचाना।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

मनुस्मृतिमें ये सब धर्म-लक्षण स्थान-स्थानपर बिखरे हुए हैं। मनुजीने स्वयं इनको समेटकर स्पष्टम्-स्पष्टम् समझा देनेके लिए इकट्ठा करके वर्णन किया है।

९. महाभारतके मतसे **धर्म वह वस्तु है जो प्राणिमात्रके भरण-पोषण-धारण अर्थात् योगक्षेम-विधानमें समर्थ हो।** अभिप्राय यह है कि यह मनुष्य-जीवन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। यह जन्म प्राप्त करके यदि मनुष्यत्वकी रक्षा न की जाय तो पुनः जड़त्वकी प्राप्ति हो जाती है। धर्म इसकी चेतनताको प्रबुद्ध करता है, जगाता है। अधर्म जड़ताकी ओर झोंकता है। प्राप्त मनुष्यत्वकी रक्षा और प्राप्तव्य परमेश्वरकी प्राप्ति धर्मके द्वारा ही होती है। वस्तुतः यही योगक्षेम है। धर्म केवल मनुष्यत्वका ही रक्षक नहीं है, मनुष्यमें रहकर प्राणि-मात्रका रक्षक है। इसीसे मनुष्यके व्यवहारमें दूसरे प्राणियोंके प्रति हिंसाभावका निषेध है। वस्तुके वस्तुत्वको सुरक्षित रखना और विकसित करना धर्मका काम है।

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

१०. भरद्वाज ऋषिके मतमें जिस कर्मसे तमोगुणका ह्रास और सत्त्वगुणका प्रकाश हो उसे धर्म कहते हैं। अनेक मतोंमें त्रिगुणके द्वारा ही समग्र सृष्टिकी व्याख्या की गयी है। तम और सत्त्वके बीचमें रजोगुण पड़ता है। यही ज्ञानको वासनासे रँगता है और तमोगुणको बढ़ाकर आलस्य, निद्रा, प्रमादादिके द्वारा उसे ढँक देता है। फिर तो, मनुष्य जड़वत् मूढ हो जाता है अथवा जड़ अवस्थामें चला जाता है। परन्तु रजोगुणी कर्म यदि शास्त्रीय अथवा महापुरुषोक्त प्रक्रियासे किया जाय तो वही मूढ़तासे मुक्त करके ज्ञानका वासनोपराग मिटा देता है और उसे शुद्ध कर देता है। सत्त्वगुणकी वृद्धिके दो लक्षण हैं—प्रकाश और अनासक्ति। सुखासक्ति और बौद्धिक अहंकारसे बचकर धर्मानुष्ठान करनेसे सत्त्वकी वृद्धि होती है। इसमें सदाचारी जीवन, यथार्थ ज्ञान और आसक्तिरहित आनन्दकी उत्पत्ति होती है।

११. याज्ञवल्क्य मुनिके मतमें यज्ञ, सदाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि देश-काल-सापेक्ष धर्म हैं और योगद्वारा आत्मदर्शन परमधर्म है। याज्ञवल्क्यजीने धर्मके पाँच प्रेरणा-स्रोत बताये हैं—वेद, वेदाविरुद्ध स्मृति, दोनोंसे अविरुद्ध सदाचार, तीनोंसे अविरुद्ध आत्मप्रिय और चारोंसे अविरुद्ध स्वयं ग्रहण किया हुआ नियम। इस लक्षणमें मुख्य बात यह है कि आत्म-दर्शनको परम धर्म माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कर्मानुष्ठानात्मक धर्मका परित्याग करके भी आत्मज्ञानके लिए प्रयत्न करना पड़े तो करना चाहिए। यह बात मनुस्मृतिमें स्पष्ट कही गयी है कि प्रणव-जप, उपनिषद्का पाठ, चित्त-शान्ति, और आत्मज्ञानके लिए आवश्यक हो तो अग्निहोत्रादि कर्मका परित्याग कर देना चाहिए (१२.९२)।

१२. इतिहासविद् आचार्योंका अभिमत है कि **परम्परागत सदाचार ही धर्मका श्रेष्ठ लक्षण है**। इसका अभिप्राय यह है कि कालक्रमसे परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। देश-भेदसे भी संस्कृतियोंमें अन्तर मिलता है। भिन्न-भिन्न जाति और सम्प्रदायके लोगोंसे भी संसर्ग होता है—ऐसी अवस्थामें मनुष्य यदि अपने कुलक्रमागत सदाचारका त्याग करने लगे तो वह कहींका नहीं रहेगा। संघर्ष-दोष, भौगोलिक दोष और परिस्थिति-दोषसे रक्षा करके जीवनको तपःपूत रखनेवाला यह परम्परागत सदाचार ही है। इसीसे **'आचारप्रभवो धर्मः'**—ऐसा कहा गया है। कहीं-कहीं 'आचारः प्रथमो धर्मः' अथवा 'परमो धर्मः' भी है। मनुस्मृति (४.१७८) में कहा गया है कि जिस मार्गसे अपने पिता-पितामह गये हों अर्थात् उन्होंने जिस सदाचारका पालन किया हो, उसी मार्गसे चलना चाहिए। उससे चलनेवाले मनुष्यपर अधर्म आक्रमण नहीं करता। सदाचार कहनेका अभिप्राय यह है कि उनके द्वारा किये गये कदाचारका अनुसरण नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति (४.१७६) में लोकनिन्दित धर्माविरुद्ध आचरणका भी परित्याग कर देना चाहिए, ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थमें विवाद है; परन्तु परम्परागत सदाचारमें कोई विवाद नहीं है।

१३. देवर्षि नारदके मतमें **महापुरुषकी आज्ञाके अनुसार कर्म करना ही धर्म है**। नारद पंचरात्रके आचार्य हैं। वे श्रौत-स्मार्त पद्धतिमें धर्मका जो लक्षण किया गया है उससे कुछ विलक्षण बतलाते हैं। आचारसहित विद्याका उपदेश करनेवाला आचार्य होता है। प्रत्येक व्यक्तिको उसकी योग्यताके अनुसार अभ्युदय-निःश्रेयसका उपाय बतानेवाला गुरु होता है। गण्डकी नदीकी शिला शालग्राम है और

पूजामें रखी गयी शिला इष्टदेव है। महापुरुष वेद, शास्त्र, पुराणका सार-सार जानते हैं। अपने अनुभवसे उनके अर्थका साक्षात्कार करते हैं। वे अपने शिष्यको लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए विशिष्ट साधनका उपदेश करते हैं। इसीके अनुसार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बनते हैं। नारदने जो धर्मका लक्षण किया है उसके अनुसार बुद्ध, महावीर स्वामी, ईसा, मोहम्मद, जरथूस्त, नानक आदिके द्वारा उपदिष्ट मार्ग भी धर्म-लक्षणके साथ समन्वित हो जाते हैं; क्योंकि वे महापुरुषोंके द्वारा उपदिष्ट हैं। वर्णाश्रम-धर्म श्रौत-स्मार्त पद्धतिके अनुसार है। उसमें वेद और तदनुकूल शास्त्र ही प्रमाण होते हैं। इस लक्षणके अनुसार भिन्न-भिन्न महापुरुषोंकी प्रामाणिकता भी स्थापित होती है।

१४. अंगिरा ऋषिके मतमें भगवान्के प्रति अर्पित कर्म ही धर्म है। इस लक्षणमें एक विशिष्ट पद्धति स्वीकार की गयी है। इसमें कर्ताके अधिकार, शास्त्रप्रमाण, महापुरुषके उपदेश अथवा कर्मके स्वरूपपर बल नहीं दिया गया है। इसमें यह कहा गया है कि कर्मका उद्देश्य संकीर्ण स्वार्थ है अथवा परमेश्वरकी प्रसन्नता? जहाँ कर्म भगवत्-प्रसन्नताके लिए है, वहाँ धर्म है और जहाँ संकीर्ण स्वार्थके लिए है, वहाँ नहीं। इसी दृष्टिकोणसे भक्तिमार्गमें धर्मका विचार किया गया है। 'कायेन वाचा०' भागवतके इस श्लोककी व्याख्यामें श्रीधर स्वामीने कहा है कि किसी विशेष कर्मका नाम भागवत-धर्म नहीं है, प्रत्युत भगवदर्पित सभी कर्म धर्म होते हैं।

१५. भगवान्के द्वारा आदिष्ट भगवत्प्रापक उपाय—नामोच्चारण, नाम-स्मरण, सर्वकर्मार्पण आदि धर्म हैं—ऐसा भागवतका मत है। यह ध्यान देने योग्य है कि अजामिलके प्रसंगमें वेद-विहित और वेदनिषिद्धको धर्माधर्म मानकर यमदूतोंने स्वर्ग-नरक, प्रायश्चित्त

और उससे मुक्तिका उपाय बताया था। वह सर्वथा वैदिक धर्मके अनुरूप है, उसमें किसी प्रकारका दोष भी नहीं है, परन्तु भगवान्के पार्षदोंने उनकी बात नहीं मानी और केवल नामाभासको सम्पूर्ण पापोंका निवर्तक मानकर अजामिल-जैसे पापीको उनके हाथोंसे छीन लिया और उसे साधनके मार्गपर डाल दिया। जब यमदूत यमपुरीमें यमराजसे इसका रहस्य पूछने लगे तब उन्होंने भागवत-धर्मका स्वरूप बताया। यमराज बारह भागवतोंमें-से एक हैं। उनका कहना है कि 'धर्मके प्रणेता स्वयं भगवान् ही हैं। बड़े-बड़े ऋषि और देवताओंको भी धर्मका रहस्य ज्ञात नहीं है। हम बारह भागवत-धर्मको जानते हैं। नामोच्चारण आदिके द्वारा भगवान्के प्रति भक्ति-योग ही परम धर्म है।'

इस प्रसंगमें एक प्रश्न उठाया गया है कि यदि नामोच्चारण आदि सरल साधनोंसे ही बड़े-बड़े पापोंकी निवृत्ति हो जाती है तो धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें बारह-बारह वर्षतक व्रत करके पापोंकी निवृत्तिके प्रायश्चित्तका विधान क्यों है? इसके उत्तरमें कहा गया है कि जैसे मृतसंजीवनी ओषधिको न जाननेवाले वैद्य रोग मिटानेके लिए त्रिकटु, निम्ब आदि औषधोंका प्रयोग करते हैं, वैसे ही नाम-स्मरणके माहात्म्य न जाननेवाले महाजन बड़े-बड़े उपाय बताते हैं। यहाँ महाजन शब्दका अर्थ बताते हुए कहा गया है कि जिन बारहोंका नाम लिया गया है, उनके अतिरिक्त मुनिगण (श्रीधर), शास्त्रज्ञ जन (वीर राघव), जैमिनि आदि (विश्वनाथ चक्रवर्ती) इनके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख है कि माया देवीने इन महाजनोंकी बुद्धि हर ली है। मधु-पुष्पितात्रयीके मीठे-मीठे वचनोंमें फँस गये हैं। उन्हें बड़े-बड़े कर्म ही पसन्द आते हैं। इसका अर्थ है कि भगवत्प्रोक्त और भगवत्प्रापक उपाय नामोच्चारणादि अत्यन्त सुगम

एवं सार्वजनिक धर्म हैं। इसके-जैसा ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला दूसरा कोई धर्म नहीं है।

भागवतके प्रथम स्कन्धके दूसरे अध्यायमें यह निरूपण किया गया है कि जिससे भगवान्‌में अहेतुक और अप्रतिहत भक्ति हो उसको परम धर्म कहते हैं। जिससे भगवत्कथामें रति हो वही धर्मानुष्ठान है, शेष श्रम है। धर्मका मुख्य फल अपवर्ग है, धन नहीं। भलीभाँति अनुष्ठित धर्मका फल हरितोषण है। धर्मका परम तात्पर्य भगवान्‌में ही है। इसीसे आप समझ सकते हैं कि भागवतमें धर्मका क्या स्वरूप स्वीकार किया गया है? इसके अतिरिक्त सत्य, अहिंसा, भूत-दया, सर्वत्र भगवद्दर्शन, सर्वत्र भगवद्भाव आदिको भी स्थान-स्थानपर धर्म कहा गया है।

इन लक्षणोंके प्रकाशमें आप धर्मपर विचार कीजिये। किसी एकांगी लक्षणमें अपनी बुद्धिको आबद्ध मत कीजिये। आप देखेंगे कि ये लक्षण इतने उदार, उदात्त एवं व्यापक हैं कि इसमें सम्पूर्ण विश्वके सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं अखिल साम्प्रदायिक मत-मजहबोंका सन्निवेश हो जाता है। क्या आपकी दृष्टि इतनी संकीर्ण है कि जो आपके द्वारा मान्य लक्षण है उसमें जिसका सन्निवेश हो उसको धर्मात्मा मानें और जो दूसरे लक्षणके अन्तर्गत हो, उसको अधार्मिक? आप इन सभी लक्षणों पर विचार कीजिये और अपनी अन्तःकरणकी संकीर्णताका परित्याग करके सबमें व्यापक धर्म-सत्ताका अनुभव कीजिये। इससे आपके मनमें जो राग-द्वेष, संघर्ष, कटुता, वैमनस्य आदिकी भावनाएँ आ-आकर आपको दुखी बनाती हैं वे शान्त हो जायँगी और आप परमार्थपथपर अग्रसर होंगे।

●

सुख-दुःखका विश्लेषण

१. क्या दुःखका न होना ही सुख है? इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि फिर दुःख क्या है? क्या सुखका न होना ही दुःख है? न होना अर्थात् अभाव। यदि दोनों ही अभावरूप हैं तो सुख क्या

है, दुःख क्या है, इसकी पहचान कैसे होगी ? सुख-दुःखकी अलग-अलग पहचान हुए बिना उनके अभावकी पहचान भी नहीं हो सकती। इसलिए सुख-दुःखके पृथक्-पृथक् स्वरूपका विवेचन करना आवश्यक है। यदि सुख-दुःख अभावरूप ही हो तो 'मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ' इस अलग-अलग होनेवाले सार्वजनिक अनुभवका ही तिरस्कार हो जायगा। ऐसी अवस्थामें, सुखकी इच्छा = राग और दुःखकी निवृत्तिकी इच्छा = द्वेषकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिए सुख, दुःख भावरूप पदार्थ हैं और उनका विवेचन आवश्यक तथा उपयोगी है।

२. प्रत्येक मनुष्य यहाँ तक कि साधारण प्राणी कीट, पतंगादि भी अपने मनमें अलग-अलग सुख-दुःखका अनुभव करते हैं। सुख-दुःख अपरोक्ष हैं। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुखी हूँ'—यह अनुभव साक्षि-भास्य है। इनकी सिद्धिके लिए किसी बाह्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। सुख-दुःखका घटपटादिके समान ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष नहीं होता, इसीसे प्रत्यक्षमूलक अर्थात् व्याप्तिग्रहपूर्वक होनेवाला अनुमान भी नहीं होता। उपमानादि प्रमाण भी सुख-दुःखके सम्बन्धमें अकिञ्चित्-कर हैं। यही कारण है कि स्वसंवेद्य सुख-दुःख इन प्रमाणोंसे बाधित भी नहीं होते और उनकी उपस्थिति संदिग्ध भी नहीं होती।

३. सुख-दुःख बाह्य पदार्थोंके समान नहीं हैं। बाहर तीन प्रकारके पदार्थ देखनेमें आते हैं— १. स्रक्‌चन्दनादि अनुकूल पदार्थ, २. सर्प-वृश्चिक, शत्रु, कण्टकादि प्रतिकूल पदार्थ, और ३. अजागलस्तन (बकरीके कण्ठमें उत्पन्न थैली) आदि उपेक्षणीय पदार्थ। इनमें प्रियता, अप्रियता अथवा उपेक्षणीयता वासनाके तारतम्यसे होती है। कोई-कोई साधनाभ्यासके द्वारा प्रियको अप्रिय, अप्रियको प्रिय,

दुःखके हेतुको सुखका हेतु और सुखके हेतुको दुःखका हेतु बना लेते हैं। जो विशेष व्यक्ति या द्रव्य एकके लिए प्रिय होता है, वही दूसरेके लिए अप्रिय होता है। वस्तु और व्यक्तिमें सुख-दुःखका नियमन नहीं किया जा सकता। घटनाओं और क्रियाओंकी भी यही दशा है। भक्तजन भगवान्के दर्शन और सेवाके लिए बार-बार विपत्ति और जन्म-मरण भी चाहते हैं। ये सब बाह्य पदार्थ हैं और सुख-दुःख आन्तर। इसलिए पदार्थों, उनके भावाभावों, व्यक्तियों, घटनाओं और क्रियाओंको सुख-दुःख समझ बैठना भूल होगी। वे इनके निमित्तसे अभिव्यक्त होनेपर भी इनसे सर्वथा विलक्षण और स्वतन्त्र हैं। इनके न होनेपर भी रात्रिमें, एकान्त देशमें स्मृत, कल्पित पदार्थोंसे भी सुख-दुःखका उदय देखनेमें आता है। एक यह भी विलक्षणता है कि बाह्य पदार्थ ज्ञात न होनेपर भी रहते हैं परन्तु सुख-दुःख ज्ञात न होनेपर नहीं रहते।

४. इच्छा, द्वेष और घृणा आदि पदार्थ भी ज्ञात होनेपर ही रहते हैं और अज्ञात होनेपर नहीं, परन्तु सुख-दुःख इनसे भी विलक्षण हैं। वे इतने अंशमें तो इच्छा-द्वेषसे समान हैं कि अज्ञात होनेपर नहीं रहते। उनकी अज्ञात अथवा परोक्ष सत्ता नहीं है; परन्तु इच्छा-द्वेषके विषय पृथक् होते हैं। 'इच्छति' और 'द्वेष्टि'का कर्म होता है, परन्तु सुख-दुःखका विषय अथवा कर्म नहीं होता। इच्छा-द्वेष संस्कारानुसारी होनेपर भी फलात्मक वृत्ति नहीं हैं। सुख-दुःख फलात्मक वृत्ति हैं। वस्तुतः इच्छा-द्वेषके विषय सुख-दुःख ही हैं। सुख दुःखके निमित्त वस्तु, व्यक्ति आदिको ही सुख-दुःख रूप मानकर उनकी इच्छा या उनसे द्वेष किया जाता है। इसी आरोपसे संस्कार बनकर फिर इच्छा-द्वेषको उत्पन्न करते हैं। जबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती; यह परम्परा अविच्छिन्न चलती रहती है।

५. सुख-दुःख इच्छा-द्वेषादि आन्तरिक भाव-धारासे विलक्षण होनेपर भी ज्ञानरूप नहीं हैं। इसका कारण यह है कि सुख-दुःख ज्ञानके विषय होते हैं—जाने जाते हैं। परन्तु ज्ञान ज्ञानका विषय नहीं होता। जैसे, एक प्रज्वलित दीपकको देखनेके लिए दूसरे दीपककी अपेक्षा नहीं होती, इसी प्रकार एक ज्ञानको जाननेके लिए दूसरे ज्ञानको आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान स्वयंप्रकाश है, स्वतःप्रमाण है। ज्ञानकी उपस्थितिमें ही प्रमाण अन्यको प्रमाणित करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं, इसलिए महान् दर्शनों—वेदान्त, मीमांसा आदिने ज्ञानका ज्ञान नहीं माना है। किसी-किसी दार्शनिक (नैयायिक आदि) ने ऐसा भी माना है कि ज्ञानका ज्ञान होता है। नहीं तो, यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञानका भेद निर्णीत नहीं हो सकता, परन्तु यथार्थ-अयथार्थका भेद भी ज्ञेयमें ही होता है, ज्ञानमें नहीं। वस्तु झूठी या सच्ची हो सकती है, प्रकाश झूठा नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें जबकि ज्ञानका ज्ञान नहीं हो सकता, सुख-दुःखका ज्ञान होता है—यह सर्वसम्मत है। दोनोंके परस्पर भेदका भी ज्ञान होता है। उनके उदय और विलयका भी ज्ञान होता है। उनका तारतम्य भी ज्ञात होता है। पूर्वानुभूति अथवा शास्त्र-प्रमाणसे उनकी प्रवृत्ति-निवृत्तिके उपाय भी ज्ञात होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुख-दुःख ज्ञानसे भी विलक्षण हैं।

६. गम्भीर दृष्टिसे गवेषणा की जाय तो ज्ञात होगा कि संसारमें प्राणियोंके जितने भी शरीर देखनेमें आते हैं, उनमें कुछ-न-कुछ भेद है। वे आकृति-प्रकृतिसे परस्पर विलक्षण हैं। उनकी मानसिक, ऐन्द्रियिक एवं शारीरिक शक्तियोंमें परस्पर न्यूनाधिक्य है। सबकी रुचि और भोग्य अन्नमें भी अन्तर है। यह सब क्यों? जिस प्राणीके मनमें

जिस वस्तुमें सुख-बुद्धिका आरोप है, उसके भोगके लिए और जिसमें दुःखका आरोप है, उससे बचनेके लिए उसके शरीरको यथेष्ट सामर्थ्य प्राप्त है। प्राणियोंकी सींग, दाढ़, हाथ, पाँव आदिकी बनावटमें भेद होनेका यही कारण है। इस प्रकार हम देखते हैं तो सारी सृष्टिके निर्माणमें ही सुख-दुःखकी वासना हेतु बनकर बैठी हुई है। साथ ही, यह भी देखनेमें आता है कि प्राणियोंके सभी व्यवहार सुखकी प्राप्ति और दुःखके परिहारके लिए होते हैं। यदि मूलमें सुख-दुःख न हों तो प्रवृत्तिका ही लोप हो जाय। यह संसार क्या है? केवल सुख-दुःखका भोग। संसारी कौन है? सुख-दुःखका भोक्ता। ईश्वर कौन है? सुख-दुःखका दाता। शत्रु कौन है? सुखका विरोधी, दुःखका निमित्त। मित्र कौन है? दुःखका विरोधी और सुखका निमित्त। ऐसी स्थितिमें यह संसार क्या है? केवल सुख-दुःखका विस्तार।

७. यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि सुख-दुःख परस्पर विरोधी भाव पदार्थ हैं। एक दूसरेके अभाव नहीं हैं और प्राणिमात्रके मनमें इनका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ'—इन अनुभवोंमें प्रकाश-अन्धकारके समान स्पष्ट विरोध है। इसके साथ ही सुख निरुपाधिक, निर्हेतुक इच्छाका विषय है और दुःख निरुपाधिक, निर्हेतुक द्वेषका विषय है। हम क्यों सुख चाहते हैं? और क्यों दुःखसे बचना चाहते हैं? यह प्रश्न ही नहीं उठता है। कोई भी व्यक्ति पहले यह सोच ले कि हमें क्यों सुख चाहिए और क्यों दुःख नहीं चाहिए, उसके बाद सुखकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्त हो और दुःख-निवृत्तिके लिए प्रयत्न करे—ऐसा देखनेमें नहीं आता। यह बात भी देखनेमें आती है कि सुखके समान ही दुःखाभाव भी इष्ट है और दुःखके समान ही सुखाभाव भी अनिष्ट है। इसीलिए

दुःखाभावकी इच्छा और सुखाभावसे द्वेष भी निरुपाधिक ही होते हैं। सुख अर्थसे मिले, भोगसे मिले, धर्मानुष्ठानसे मिले अथवा अर्थ-त्याग, भोग-त्याग या धर्म-त्यागसे मिले; हम इन उपाधियोंको सुखके साथ नहीं जोड़ना चाहते। जैसे भी मिले, हमें तो सुख चाहिए। वह कारणोंकी प्रवृत्तिसे मिले या निवृत्तिसे, विक्षेपसे मिले या शान्तिसे, भीड़में मिले या एकान्तमें; हमें सुख चाहिए। ठीक इसी प्रकार, हम दुःखसे बचें, सुखाभावसे बचें, इसके लिए अर्थ-संग्रह हो या अर्थ-त्याग, भोग हो या भोग-त्याग, धर्म हो या धर्म-त्याग, कारणोंकी प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, शान्ति हो या विक्षेप; हमें सब कुछ स्वीकार है परन्तु दुःखसे बचना आवश्यक है। इसी नैसर्गिक इच्छा-द्वेषके कारण भ्रान्तिवश कभी हम ऐसे मार्गमें भी भटक जाते हैं, जहाँ जाते हैं सुख पानेके लिए परन्तु मिलता है दुःख। इसी प्रकार जाते हैं दुःख मिटानेके लिए, परन्तु मिलता है और दुःख। नैसर्गिक इच्छा-द्वेष अन्धे और संस्कारप्रेरित होते हैं। उन्हें व्यवस्थित करनेके लिए मार्ग-दर्शनकी अपेक्षा होती है।

८. अज्ञानमूलक, अनिर्वचनीय, अनादि, प्रवाह-नित्य, संस्कार-धारामें नैसर्गिक इच्छा-द्वेषके विषय सुख-दुःख कब, कहाँ, किसमें आरोपित हो जायँगे—और वे प्राणोको झूठ-मूठ सुख-दुःखका अभिमानी बना देंगे अर्थात् सुखी-दुःखी कर देंगे, इसका कोई ठौर-ठिकाना नहीं है? इससे लोक-व्यवहारमें प्रशिक्षणकी प्रणाली प्रचलित है। यदि सुख-प्राप्तिका पथ बताना न होता और दुःख-प्राप्तिके कुपथसे बचाना न होता तो बड़े-बूढ़े विद्वान् हितैषियोंसे शिक्षण ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती। जहाँ, जब, जिसमें सुखकी कल्पना हो जाती उसीका संग्रह, भोग, उसकी प्राप्तिका प्रयत्न और उसीका श्रवण-वर्णन प्रारम्भ हो जाता। दुःख-निवृत्तिके लिए द्वेष

भी ऐसा ही होता। फिर तो, जीवनमें अन्धाधुन्ध संग्रह, भोग, अन्याय-युक्त कर्म, श्रवण-वर्णनका ही बोलबाला होता। परन्तु सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिए वृद्ध-व्यवहारसम्मत, स्व-परहितकारी, शरीर एवं मनके लिए सुखदायी, लोक-परलोकके लिए कल्याणकारी नियमनकी व्यवस्था अपेक्षित होती है। क्या इस लोक-व्यवहारको इच्छा-द्वेषके उच्छृङ्खल शासनके अधीन छोड़ा जा सकता है? इतिहासका चाहे कोई भी काल हो, इच्छा-द्वेषको मर्यादित किये बिना क्या कोई व्यवस्था चल सकती है? इसी व्यवस्थापकका नाम 'धर्म' है और व्यवस्थाभंजकका नाम 'अधर्म'। धर्म सुखका हेतु है और अधर्म दुःखका।

९. इस विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सुख-दुःख एक सत्य पदार्थ हैं और सुखकी प्राप्ति तथा दुःखकी निवृत्तिकी इच्छा स्वाभाविक है। यदि सुख-दुःख सत्य पदार्थ न होते, आकाश-कुसुमके समान असत् होते तो उनकी प्राप्ति या परिहारकी इच्छा ही न होती और न प्रयत्न करनेकी आवश्यकता होती। सत्य पदार्थ होनेपर भी यदि वे आत्माके समान स्वतःसिद्ध होते, साध्य न होते तो भी उनके लिए विधि-निषेधकी आवश्यकता न होती। साध्य होनेपर भी यदि उनकी प्राप्ति-परिहारके लिए प्रयत्नोंकी रूपरेखा निश्चित न होती, तब भी उनके लिए 'यह करो,' 'यह मत करो'—इस व्यवस्थाकी अपेक्षा न होती। परन्तु सुख मिष्ट-मिष्ट इष्ट है और दुःख क्लिष्ट-क्लिष्ट अनिष्ट है। इसलिए सुखकी भावात्मक प्राप्ति और दुःखकी अभावात्मक निवृत्ति प्रयत्नसाध्य हैं और जैसे वे संसार-धारामें शाश्वत हैं, वैसे ही उनकी प्राप्ति और निवृत्तिके लिए साधन एवं निमित्त भी शाश्वत ही हैं। अतः धर्म-अधर्मका लक्षण और प्रमाण भी शाश्वत ही होने चाहिए।

१०. यदि सुख-दुःखका भेद न होता, उनकी प्राप्ति-परिहारकी इच्छा शाश्वत न होती, क्षुधा-पिपासावत् संसारधाराका प्रवाह न होता, तो भोजन-पानवत् धर्माधर्म-विषयक विधि-निषेध भी शाश्वत न होते। चारों वेद, उनके छः अंग, पुराण, इतिहास, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, सदाचार और आत्मतुष्टि आदिके द्वारा धर्मके स्वरूपका निश्चय करनेका लोकव्यवहार अनादि परम्परासे प्रचलित है। यदि सुख-दुःख और उनके प्राप्ति-परिहारके निमित्त धर्माधर्म सुनिश्चित न होते तो ये सब-के-सब शास्त्र एवं लोक-व्यवहार व्यर्थ हो जाते। वस्तुतः सुख-दुःख ही जीवनके ऐसे सत्य हैं जो हमें धर्माधर्मका विज्ञान प्राप्त करनेके लिए बाध्य करते हैं और हमें अश्रेयस्कर मार्गसे निवृत्त करके श्रेयस्कर एवं अभ्युदयकारी मार्गपर ले चलते हैं।

११. कोई भी बुद्धिमान् प्राणी ऐसा नहीं कर सकता कि जो मनमें आये, वही बोलता जाय, करता जाय, भोगता जाय या संग्रह करता जाय। यदि कोई ऐसा करेगा तो वह पागल समझा जायगा। मनमें अगणित, अज्ञात, अनादिकालीन वासनाएँ भरी हैं; कब, कहाँ, कौन, किस प्रकार उदय हो जायगी—इसका नियम नहीं है। उनके उदय हो जानेके बाद ही नियमनका प्रश्न उठता है। उदयके पूर्व तो वे ज्ञात ही नहीं होतीं तो नियमन कहाँसे होगा? उदय होनेके बाद दो बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है—एक तो बुद्धिसे यह देखना कि यह वासना हित है या अहित, उचित है या अनुचित, धर्म्य है या अधर्म्य। दूसरी बात यह है कि वह क्रियापर्यन्त ले जाने योग्य है अथवा विरोध, अनुरोध या निरोधके द्वारा नष्ट कर देने योग्य है। कोई-कोई शिथिल वासना स्वप्नवत् होती हैं और उपेक्षामात्रसे मिट जाती हैं। विवेकपूर्वक वासनाओंके साथ निपटना कल्याणकारी हो सकता है, अविवेकपूर्वक नहीं। सुख-दुःख धर्माधर्मके फल हैं इसलिए

सुख-प्राप्त्यर्थ विवेकपूर्वक धर्मानुष्ठान करना चाहिए और अविवेक-पूर्वक वासनावेशसे होनेवाले अधर्माचरणसे बचना चाहिए। यही सुख-दुःखकी कुञ्जी है।

१२. वासनाके नियन्त्रणके लिए मुख्यतः तीन मार्ग हैं—

(१) अनुचित वासनाको क्रिया-पर्यन्त न जाने दिया जाय अर्थात् निषिद्ध कर्म न किया जाय, परन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। केवल आदेश देनेमात्रसे ही वासनाएँ मान नहीं जातीं। उनके लिए निषेधात्मक आदेशके साथ ही कुछ विधानात्मक उपाय चाहिए। वह है संध्या-वंदन, यज्ञ, दान, व्रत आदि विधिविहित कर्म। यह बहिरङ्ग धर्म है।

(२) वासनाओंको एक ऐसे अन्तरंग साधनके मार्गपर डाल देना, जहाँ उनका रूपान्तर अथवा रासायनीकरण हो जाय। यह केवल विरोधात्मक विधि-मार्ग नहीं है, यह प्रियता और आदेशका मिश्रित मार्ग है। आपको जिन शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सद्गुण, महत्त्व, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदिकी वासना होती है उनको अपने परम-प्रेमास्पद हृद्देशस्थ परमेश्वरमें ही देखिये, भावना कीजिये और उसीमें रम जाइये। जो वस्तु पानेके लिए आपका मन बाहर जाता है उसको भीतर ही प्राप्त कर लीजिये। अन्तर देशमें ही आपकी वासना पूर्ण हो जाती है तो बाहर जानेका परिश्रम अपेक्षित नहीं है। सगुण-साकार आदि उपासनाएँ वासनाओंको अनुरोध मार्गसे शान्त कर देती हैं। धर्मविरोध अधर्मका वह शासनानुसारी है, वासनानुसारी नहीं। उपासनाएँ वासनाओंका विरोध नहीं, अनुरोध करके बाह्य विषय और प्रवाहसे विविक्त एवं शुद्ध कर लेती हैं।

(३) मनके उत्थान एवं चंचल दशामें ही वासनाओंका उन्मेष होता है। यदि योगमार्गसे मनका ही निरोध कर लिया जाय तो वासनाओंका उदय ही नहीं होगा और क्रिया-पर्यन्त जानेकी समस्या ही मिट जायगी। योग वासनाओंके साथ छेड़-छाड़ नहीं करता। उनके अभिव्यक्ति-स्थान मनको ही शान्त कर देता है। धर्म कर्मके द्वारा, उपासना वासनांतरके द्वारा और योग शान्तिके द्वारा अधर्मके निवर्तक हैं। अधर्मकी निवृत्तिसे दुःखकी निवृत्ति और धर्मानुष्ठानसे सुखकी प्राप्ति होती है। धर्मजन्य लौकिक-पारलौकिक सुख, उपासनाजन्य इष्ट-सुख एवं योगजन्य समाधि सुख—ये तीनों साध्य हैं और बहिरंग धर्म, अन्तरंग उपासना तथा परमान्तरंग योगके द्वारा इसकी निष्पत्ति होती है।

१३. लोक-परलोकमें जिस सुख या दुःखकी अनुभूति होती है, वह धर्माधर्मजन्य है और जन्य होनेसे अनित्य है। उसके निमित्त भले ही भोग, मनोराज्य, अभिमान अथवा अभ्यास हों। धर्माधर्म, सुख-दुःख आत्माके गुण ही हैं—ऐसा न्याय-वैशेषिकका मत है। उपासनामें वृत्ति जब अन्यविषयाकारताको छोड़कर इष्टाकार होती है, तब उसमें इष्ट-सुखका प्रतिबिम्बन होता है। गौण सुख जीवात्मा है उपासक, मुख्य सुख है इष्टदेव। आनन्दका पूर्ण प्रकाश इष्टदेवमें है तदाकारवृत्तिसे सुखका अनुभव होता है। योगमें त्रिपुटीपर्यन्त सुखका अनुभव है। आनन्दानुगत समाधि सम्प्रज्ञात ही है। अस्मितालम्बन सम्प्रज्ञात समाधिमें भोक्ता-भोग्यकी त्रिपुटी न होनेसे सुखानुभूति भी नहीं होती। असम्प्रज्ञात समाधिमें सुखानुभूतिकी चर्चा नहीं है। सत्त्वान्यथाख्याति होनेपर चिन्मात्र द्रष्टा केवल है। कैवल्यदशामें जगत्, ईश्वर और दूसरे द्रष्टाका अनुभव नहीं है। वहाँ सुख भो नहीं है। परन्तु दुःख भी नहीं है। द्रष्टा अपने शुद्ध

स्वरूपमें ही अवस्थित है। इस प्रकार इन तीनों मतोंमें सुख-दुःख जन्य ही हैं और अनित्य भी हैं। जबतक धर्म है तब-तक उसका फल सुख। जबतक तदाकारवृत्ति है, तबतक इष्टसाक्षात्कारजन्य सुख। जबतक सम्प्रज्ञात समाधि है तबतक अभ्यासजन्य सुख। सुख-दुःखका दाता ईश्वर भी धर्माधर्म, वासना-उपासना, क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तिसापेक्ष ही सुख-दुःखका हेतु हो सकता है, निरपेक्ष नहीं, ऐसा वेदान्तका मत है।

१४. वेदान्तकी दृष्टिसे प्रातिभासिक और व्यावहारिक सुख जन्य हैं। परन्तु परमार्थ सुख सच्चिदानन्दघन आत्माका स्वरूप ही है। वह किसी साधनसे सिद्ध नहीं होता, वह स्वतःसिद्ध है। जो साध्य होता है, वह अनित्य होता है। आत्माका स्वरूपभूत स्वतःसुख केवल अविद्याके कारण ही अप्राप्त-सा हो रहा है। अविद्यासे जो अप्राप्त है वह अप्राप्त नहीं है। विद्यासे जो प्राप्त होता है, वह अप्राप्त नहीं है, नित्य प्राप्त ही है। वेदान्त केवल अविद्याकी निवृत्ति करता है। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वय सुखस्वरूप ब्रह्म है। अविद्याकी कल्पना भी अविद्या दशामें ही है, परमार्थमें नहीं है। निष्काम भावसे धर्म, उपासना अथवा योगका अनुष्ठान करनेसे अन्तः-करणकी शुद्धि होती है और फिर अधिकार-सम्पत्ति प्राप्त होनेपर जिज्ञासुको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मविद्या प्राप्त होनेपर कुछ भी कर्तव्य, त्यक्तव्य, अप्राप्तव्य अथवा ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। यही जीवन्मुक्ति अथवा ब्राह्मी स्थिति है जो जिज्ञासु जनोंके कल्याणार्थ उन्हींकी दृष्टिसे प्रतीयमान जीवन्मुक्त महापुरुषके शरीरमें रहती है। यही परमसुख है, यही परमानन्द है।

●

वसुदेवके मनमें

भगवान् श्रीकृष्णने अवतारके पूर्व वसुदेवजीके मनमें प्रवेश किया। यह वर्णन भागवत (१०.२.१६)में है। स्वतन्त्र प्रभु यदि सीधे ही प्रकट हो जाते तो यदुवंशके साथ सम्बन्ध न होता। इसलिए वसुदेवके मनमें आविष्ट होना आवश्यक था। वे विश्वकी सृष्टि करके उसमें अनुप्रवेश करते हैं। वे वसुदेवके मनमें भी अनादि कालसे ही विराजमान हैं। इस विशेष आवेशका अभिप्राय है—मनमें आविर्भाव। वस्तुतः प्रभुका जीवोंके समान धातु-सम्बन्ध अथवा जन्म-मरण नहीं होता, उनका आविर्भावमात्र ही होता है। ऐसा श्रीधर स्वामीका अभिप्राय है। श्रीजीवगोस्वामीने कहा है—प्रभु विश्वात्मा होनेपर भी भक्तोंके ही अभयंकर हैं। सच है, अविदित देवता रक्षा नहीं करता। मनमें प्रकट होकर ही भगवान् भक्त-संरक्षण करते हैं। वसुदेवके मनमें भाव-विशेषका उदय होनेसे प्रभुका स्फुरण होने लगा। श्रीवीरराघवाचार्य व्याख्या करते हैं कि भगवान् आत्मा हैं,

दूसरे देवता उसके अंग हैं। वसुदेव देवांश हैं। मनमें भगवान् सृष्टिके प्रारम्भसे ही रहते हैं। अनादि प्रभु, अनादि मन, अनादि निवास 'यो मनसि तिष्ठन्' (अन्तर्यामी ब्रह्म)। वसुदेवके मनमें संकल्प-रूप ज्ञानके द्वारा आविष्ट हुए—ऐसा अर्थ है। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि जैसे नृसिह, हंस आदि प्रकट होते हैं, वैसे ही यहाँ भी प्राकटच ही अभिप्रेत है। परन्तु यदुवंशी हैं, सूर्यके पौत्र हैं, वसुदेवके पुत्र हैं—ये सब प्रतीतियाँ वसुदेवके मन:सम्बन्धके बिना नहीं हो सकतीं। यह लौह-गोलकमें अग्नि-सम्बन्धके समान प्रवेश है। श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती 'आवेश'का अर्थ 'मनमें आविर्भाव' हो मानते हैं। यही अजन्माका जन्म है। 'सिद्धान्तप्रदीपकार' श्रीशुकदेव कहते हैं कि सर्वव्यापी भगवान् भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिए ही अपने अंशभूत देवकी-वसुदेवके भजनीय पुत्ररूपसे वात्सल्यरसका आस्वादन करनेके लिए अवतीर्ण हुए हैं। इसीसे वसुदेवके जन्मके समय देवताओंने नगाड़े बजाये थे। उनके मनमें भगवान्के आवेशका अभिप्राय यह है कि वे अपने नित्यसिद्ध अप्राकृत विग्रहसे ही प्रकट हुए। जैसे देहान्तर-सिद्धिके लिए जीवोंको धातु-संसर्ग प्राप्त करना पड़ता है, वैसा प्रभुको नहीं।

इस प्रसंगपर श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ सुनिये। यह विद्वान् भक्त कवि नासिकमें पैदा हुए। विक्रम सम्वत् १८९४के लगभग उस कविने 'श्रीभक्तिरसायनम्' काव्यकी रचना की है। इसमें साढ़े चार हजारके लगभग श्लोक हैं। कविने स्पष्ट कहा है कि भगवान्ने मुझे आज्ञा की—'तुम यह काव्य लिखो, जिस अभिप्रायसे मैंने जो लीला की है, वह तुम्हारी बुद्धिका विषय हो जायगा।' कुछ मास पूर्व 'सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट'ने यह पुस्तक प्रकाशित की है। अब कुछ नमूने देखिए—

यद्दुर्घटं चलमतीव च वस्तुजात-
सञ्चारि चेति बहुवारमवर्णि सद्भिः।
कीदृग्भवेत्तदिति किं प्रभुरीक्षणाय
द्रागाययौ स वसुदेवमनः परात्मा॥

सत्पुरुषोंने बार-बार यह वर्णन किया है कि मन दुर्घट, अत्यन्त चञ्चल और भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें आने-जानेवाला है। भगवान् श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि भला ऐसा मन भी कैसा होगा, यह निरीक्षण करनेके लिए वे तत्काल वसुदेवके मनमें प्रविष्ट हो गये।

सम्भव है श्रीकृष्ण परात्पर परमात्मा मनके साथ मिलकर कोई दुर्घट लीला करना चाहते हों। सम्भव है चञ्चलताका अभ्यास करना चाहते हों—नाचने, गाने, बजानेके लिए। विविध वस्तुओंके साथ मिलना चाहते हों—गोपी-गोप, गाय, लता, गुल्म नदीके साथ। बिना मिले निरीक्षण-परीक्षण हो ही नहीं सकता।

यद्वामनस्थितितयाऽस्य पुराऽहमासं
पुत्रोऽवनौ तदधुनापि तथैव भाव्यम्।
प्राग्रूपसंस्तवकृते किमसौ दयालुः
यद्वा मनःस्थितिमिहाप्युररीचकार॥

'पूर्वावतारमें मैं वामनके रूपमें प्रकट हुआ था। इस समय भी वैसा ही होना चाहिए।' इसलिए अपने पूर्व रूपके संस्तवकी दृष्टिसे इस बार भी भगवान्ने वैसा ही रूप प्रकट किया।

रसास्वादन कीजिये कविके इस काव्यकर्म-कौशलका। वामनको 'यत्' पदके साथ ऐसा जोड़ा है कि उसका 'यत्' और 'यद्वा'—दोनों पदच्छेद हो सकते हैं। तब वामन-स्थिति और मनःस्थिति—दोनों ही निकलेगा। वसुदेवके मनमें स्थिति और वामन-स्थिति एक ही है। मनमें वामन नहीं रहेगा तो क्या ब्रह्म रहेगा ?

अकामोऽप्यहं कामवानेव भक्त-
मनोजाततृप्त्यै भवामीति लोके।
दयाम्भोधिरम्भोधिशायी परात्मा
तदानीं किमासीन्मनोभूनिवासी ॥

क्षीराम्भोधिशायी, दयाम्बुधि परमात्माने लोक-व्यवहारमें यह प्रकट करनेके लिए कि मैं अकाम होनेपर भी भक्तोंके मनोजात (मनः समूह अथवा काम) की तृप्तिके लिए कामवान् हो जाता हूँ, वसुदेवके मनोभू (मनोभूमि अथवा मनःपुत्र काम) में निवास किया।

और भी देखिए—

यौ वाहौ मम लोकविश्रुतगती पक्षीश्वरस्यन्दनौ
सिद्धौ तौ भुवि नर्मकर्मणि तथा यात्रासु वाजौ क्वचित्।
भक्तानां तु मनोरथो मम मतस्तत्त्राणवेलास्विति
प्रख्यात्यै स तदारुरोह भगवांस्तच्चेत एवोदरात् ॥

भगवान्‌ने अपने मनमें विचार किया। मेरे आने-जानेके लिए दो वाहन गरुड और रथ लोक-विश्रुत हैं। उनसे लोकमें मैं विचरण करता हूँ, चाहे विनोद कर्म हो, यात्रा हो या युद्ध-भूमि हो। परन्तु जब भक्तोंकी रक्षाका समय आता है तब तो मैं उनके मनोरथको

ही रथ बनाता हूँ। मानो इसी बातको प्रकट करनेके लिए भगवान्ने वसुदेवके मनमें प्रवेश किया।

अणोरणीयान् महतो महीयान् श्रुत्यर्थमेनं प्रकटीचिकीर्षुः।
विभुः स्वयं सन्नपि विश्वनाथो विवेश तच्चित्तमणुप्रमाणम् ॥

ऐसा लगता है जैसे भगवान्के मनमें यह इच्छा हुई हो कि 'अणोरणीयान्' (छोटे-से-छोटा) और 'महतो महीयान्' (बड़े-से-बड़ा) दोनों ही परमात्माके स्वरूप हैं, इस श्रुतिके अर्थको प्रकट करके दिखा दूँ। बस, इसी इच्छाको अभिव्यक्ति देनेके लिए स्वयं विभु और विश्वनाथ होनेपर भी भगवान्ने वसुदेवके अणु-प्रमाण मनमें प्रवेश किया।

अब देख लीजिए आप, भगवान् 'महतो महीयान्' विभु हैं और वसुदेवका मन अणुसे अणुतर है। दोनों रूप एक साथ। कवि-कर्ममें कितनी निपुणता है!

यो यं विना न कुरुते गुरु वाल्पकं वा
कार्यं स तस्य गदितो भृशमन्तरङ्गः।
आलोचयन्निति विभुः पितुरन्तरङ्गं
प्रागाययावभिलषन्नुभयोर्वशित्वम् ॥

जो जिसके बिना बड़ा या छोटा कोई कार्य नहीं करता, निश्चित रूपसे वही उसका अन्तरंग कहलाता है। श्रीकृष्ण भगवान् यही विचार करके पहले अपने पिताके अन्तरंग मनमें प्रविष्ट हुए; क्योंकि वे दोनोंको ही अपने वशमें रखना चाहते हैं!

यो यो जनो भजति जन्मगतिं जगत्यां
सर्वस्य तस्य मन एव सुखादिहेतुः।
जानन्निदं प्रभुरसावपि तत्र वासं
मैत्रीकृते किमु चकार जनुर्जिघृक्षुः॥

इस जगत्में जो-जो प्राणी जन्म ग्रहण करता है, उसका मन ही सुख-दुःखका हेतु होता है। प्रभु श्रीकृष्ण भी जन्म ग्रहण करना चाहते हैं। अतः पूर्वोक्त न्यायके अनुसार जान पड़ता है—मनसे मैत्री जोड़नेके लिए मनमें निवास किया।

गोपालनं मम विधेयमिहाग्रतोऽस्ति
तत्पालके वसतिरेव पुरोपयुक्ता।
इत्येव गोगणनियन्तरि चेतसीशो
वासं चकार किमु वाऽभ्यसनाय तस्य॥

भगवान्ने विचार किया कि अवतार लेकर मुझे पहले-पहल गोपालन ही करना है। अतः सबसे पहले गोपालनके साथ निवास करना ही मेरे लिए उपयुक्त रहेगा। जान पड़ता है—यही सोचकर गोपालनका अभ्यास करनेके लिए श्रीकृष्णने गोगणनियन्ता मनके साथ निवास किया।

यहाँ गोपालन, गोपालक, गोगणनियन्ता—इन शब्दोंमें 'गो' पदका दो अर्थ है—गाय और इन्द्रियाँ। मन गोपाल है, कृष्ण गोपाल हैं। गोपाल गोपालोंमें रहकर गोपालनका अभ्यास कर रहे हैं। संयमियोंको संयमियोंमें रहकर संयमका अभ्यास करना चाहिए।

नो मयि मनः प्रवेशो जातुचिदपि किन्तु भक्तहितकारी।
अहमेव तद्विशामीत्यबोधि बहुधा मनःप्रविष्टेन॥

यह ठीक है कि मन कभी किसी प्रकार मुझमें प्रवेश नहीं पा सकता किन्तु भक्तोंके हितके लिए मैं ही उनके मनमें प्रवेश करता हूँ। ऐसा लगता है कि वसुदेवके मनमें प्रवेश करके श्रीकृष्णने यही अभिप्राय प्रकट किया हो।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मीत्युक्तिं स्वां जगति स्फुटाम्।
कर्तुं किमु हृषीकेशो मनःपदमुपाश्रितः॥

भगवान्‌ने विचार किया कि गीतामें मैंने कहा है कि 'मैं इन्द्रियोंमें मन हूँ' और यह बात जगत्‌में प्रसिद्ध भी है। हृषीकेश प्रभुने उसीको स्पष्ट दिखानेके लिए वसुदेवके मनमें प्रवेश किया।

पितृतोऽपि पितामहस्य नप्तर्यनुरागोऽधिक इत्यशेषलोकः।
वदतीत्यनुभूतयेऽस्य कामं स्वयमागात्स पितामहोपकण्ठम्॥

लोक-व्यवहारमें यह बात कही जाती है कि पितासे भी अधिक पितामह अपने पौत्रके प्रति अनुराग करता है। मानो इसी अर्थका अनुभव करनेके लिए स्वयं भगवान् पितामहके पास आये।

यहाँ कृष्णवंशके आदिजनक होनेके कारण चन्द्रमाको पिता कहा गया है। चन्द्रमाका पिता है—मन। 'चन्द्रमा मनसो जातः'—ऐसी श्रुति है। अतः मन हुआ पितामह। वसुदेवके मनमें प्रवेश करना ही पितामहके पास आना है।

यत्रामलो लसति भक्तिरसो मदङ्घ्रि-
पद्मं तथा मदभिधोत्तमरत्नराशिः।
तत्रैव हंसवदहं विहरेयमित्थं
तन्मानसे विहरता हरिणा न्यदर्शि॥

वसुदेवका मन है—मानस सरोवर। उसमें निर्मल भक्ति ही रस है। प्रभुके चरण ही कमल हैं। भगवान्‌के नाम ही रत्नराशि हैं। भगवान्‌ने प्रकट किया, मनमें प्रवेश करके कि ऐसे मानसमें मैं हंसकी तरह विहार करता हूँ।

संकल्पं निजभक्तिभृज्जनकृतं सत्यं विधातुं प्रभु-
र्भक्ताभीष्टफलप्रदो ध्रुवमसौ तत्रैत्य संतिष्ठते।
ध्वस्ताराति क्ष्मापालनमये यद्वासुदेवे तदा
सङ्कल्पेऽवसदेष एव हि मनो वासोऽस्य नत्वन्यवत्॥

प्रभुका यह स्वभाव है कि अपने भक्तजनोंका संकल्प सत्य करनेके लिए भक्त-वाञ्छित फलदाता भगवान् अवश्य ही उसके संकल्पमें आ बैठते हैं। वसुदेवका संकल्प था पृथिवीका पालन हो, पृथिवीके भार-रूप दैत्य मरें—इस संकल्पमें भगवान्‌का निवास ही मनोनिवास है। जैसे कोई दूसरा आकर कहीं बैठ जाय, वैसा नहीं।

ये हैं वसुदेवके मनमें भगवान्‌के आवेश-प्रवेशपर श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ। हम आशा करते हैं कि काव्यप्रेमी भक्त-रसिक इसका आनन्द लेंगे।

श्रीकृष्णजन्म-लीला

काल सर्वगुण सम्पन्न हो गया !

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि श्रीकृष्ण-जन्माध्याय-में छः पदार्थोंका वर्णन है : १. जन्म, २. निरूपण, ३. स्तोत्र, ४. सान्त्वना, ५. रूपान्तर-स्वीकार और ६. गोकुल-गमन। जन्मके अवसर पर कालमें परिवर्तन हुआ। आचार्यने इसका अभिप्राय यह बताया कि भगवान् द्वारा अपनेमें स्थापित सभी गुण कालने प्रकट कर दिये, जिससे यह विदित हो जाय कि स्वयं भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं। मूलमें कालको 'सर्वगुणोपेत' और 'परमशोभन' कहकर सूचित किया गया कि कालका अन्तरंग गुण सद्गुण है और बहिरंग गुण है शोभा। वह अपने दोनों गुणों द्वारा भगवान्की आराधना करना चाहता है। आराधना पूर्ण समर्पणसे ही सम्पन्न होती है।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि भगवान् किसकी आराधना स्वीकार करना चाहते हैं, उसमें स्वयंको प्रकाशित करते, सद्गुण एवं सौन्दर्यको अभिव्यक्त करते और अपनी पूजा स्वीकार

करते हैं। यदि ऐसा न होता तो कालातीत प्रभु कालमें क्यों प्रकट होते और उसे सुषमा एवं सद्‌गुणसे सम्पन्न क्यों बनाते ?

श्री हरिसूरिने 'भक्ति-रसायन'में कहा है कि वैसे तो काल संहार-गुणवाला है और लोगोंका अनिष्ट ही करता है; तथापि भगवत्-सम्बन्धी होनेसे वह सर्वगुण-सम्पन्न और परम-शोभन बन गया। मनुष्यके हृदयमें तभी तक सभी बुराइयाँ और कुरूपताएँ रहती हैं, जबतक भगवान्‌के साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता।

दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं

श्रीकृष्ण-जन्मके समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं। इस सम्बन्धमें श्री हरिसूरिका कहना है कि दिशाएँ देवियाँ हैं। उनके पति देवगण कंसके आतंकसे अपने-अपने अधिकारसे वंचित हो चुके हैं। अब कंस-निषूदन श्रीकृष्णके अवतार ग्रहण करनेसे वे अपने अधिकार प्राप्त कर लेंगे और उनका दिशाओंके साथ पुनर्मिलन हो जायगा। इसी भावसे दिशाएँ प्रसन्न हो रही हैं। यद्यपि भगवान् दिग्-भेदसे अतीत हैं; तथापि अवतार द्वारा उनका सभी दिशाओंके साथ सम्बन्ध हो रहा है। अब सभी देवता उनसे संयुक्त और उनकी शक्तिसे शक्तिशाली होकर शीघ्र ही अपनी-अपनी पत्नी दिशाओंके साथ मिलेंगे—इससे बढ़कर दिशाओं-के लिए क्या सौभाग्य हो सकता है? वस्तुतः हरिमें ही 'हरित्व' है जिसका अर्थ है, हरिका भाव। इसी तरह दिशाओंमें भी हरित्त्व सिद्ध है, कारण हरित् दिशा का नाम है। उनका भाव भी हरित्त्व है। तब हरिके प्रसन्न उदयसे दिशाएँ क्यों न प्रसन्न हों? संस्कृत-भाषामें 'दिशा' शब्दका पर्याय है 'आशा'। 'दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं' का अभिप्राय यह है कि दिशाएँ विराट् प्रभुके कर्ण होनेसे उनकी प्रसन्नताका अर्थ हुआ, प्रभुने सत्-पुरुषोंकी प्रार्थना सुन ली।

पृथिवी मंगलमयी बनी !

पृथिवीने सोचा कि योगियोंके ध्येय, देवर्षियोंके ज्ञेय, भक्तोंके अर्चनीय, कल्याणदायिनी, सदया, सर्व-सम्पत्-स्वामिनी, लक्ष्मीके भी सेवनीय, परमसुन्दर भगवत्-चरणारविन्द मुझपर निरन्तर विहार करेंगे। इसलिए वह आनन्दयुक्त होकर मांगल्यसे अलंकृत हो गयी। सुनिये, श्री हरिसूरिके शब्दोंमें :

ध्येयं योगिभिरर्च्यमाश्रितजनैर्गेयं हि देवर्षिभिः
सेव्यं भव्यदया च यत्सदयया सर्वाढ्ययाऽपि श्रिया।
तच्छ्रीमत्पदमद्य मय्यविरतं सञ्चारशीलं भवे-
दित्यानन्दयुता तदाऽवनिरभून् माङ्गल्यतोऽलङ्कृता ॥

एक सखीने पृथिवीदेवीसे परिहास किया : 'तुम्हारे प्रिय तुम्हारे ही रंगसे रँगे पीताम्बरसे दिन-रात लिपटे रहते हैं। अतः तुम्हारे लिए उनका भोग योग-दुर्लभ नहीं।' पृथिवी देवीने कहा : 'प्रियसखी! तेरा परिहास सच्चा हो। तेरे मुँहमें घी-शक्कर !' मानो यह कहकर पृथिवीने सारे शृंगार-प्रसाधन धारण कर लिये हों।

भगवान् सर्वरूप हैं, इसलिए उनका सबके साथ सब प्रकारका सम्बन्ध है। पृथिवी उनकी पत्नी है और सास भी। पृथु-अवतारमें तो पुत्री भी हैं। भगवान्का अवतार क्या हो रहा है, पृथिवीके जामाता सीता-पति पधार रहे हैं। तब दामादके आगमनपर सास आनन्द-मंगल मनाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? यह तो सुप्रसिद्ध लोकव्यवहार है। देखिये भक्तिरसायनका यह श्लोक :

आयाते क्वचिदेव सद्मनि निजे जामातरि प्रेमतः
कन्यामातुरतीव चेतसि भवत्यानन्द एतत्स्फुटम्।
सर्वत्रेति न चित्रमत्र यदभूत्सा भूमिरानन्दभाक्
सीताभर्तुरनामयाऽऽगमनमालक्ष्याऽखिलार्थीशितुः॥

श्रीहरिसूरि एक उत्प्रेक्षा करते हैं कि पृथ्वी मन ही मन सोच रही है कि वामन भगवान् तो ब्रह्मचारी थे। भगवान् परशुरामने भी ब्रह्मार्पण कर दिया। फिर सीतापतिने तो सास ही बना लिया। इसलिए मुझे किसी अवतारमें सुख-सौभाग्य नहीं मिला, लेकिन इस अवतारमें वह अवश्य मिलेगा। अब मुझे निरापद श्रीकृष्णभोगकी प्राप्ति होगी। मानो यही सोचकर वासकसज्जिका नायिकाके समान पृथ्वीने मङ्गलमय शृंगार धारण कर लिया :

वर्णित्वाद्यदुपेन्द्रतोऽनुविहित - ब्रह्मार्पणाद्रामतो
यत्सीतापतितोऽऽप्यभून्न च सुखं श्वश्रूत्वतस्तादृशम्।
तत्सौभाग्यसुखं किलाद्य फलितं तद्भोगतोऽस्मिन् भवे-
दस्माद्वासकसज्जिकेव समभूद् भूमिस्तदाऽत्युज्ज्वला॥

पृथ्वी मंगलमयी हो गयी, यह कहनेका एक अभिप्राय यह भी है कि उसने प्रभुका सौभाग्यदायक आगमन जानकर अपने गलेमें मंगलसूत्र पहन लिया।

इसमें क्या सन्देह है कि सर्वंसहा पृथ्वी क्षमाशील होनेके कारण प्रभुकी कृपापात्र हो और उसके कण-कण मंगलमय हो जायँ।

श्रीहरिसूरिकी एक उत्प्रेक्षा और सुनिये :

पुत्रेणाखिललोकपालनकला संदर्शनीयाऽनिशं
स्वीया सर्वसदिष्टशर्मरुचये ताताय निस्तन्द्रितम्।
युक्तं तत्किल मङ्गलोऽप्यविकलं संलक्ष्य तातागतिं
यद्ग्रामव्रजपूर्वनान्यवनिजः स्वार्थान्वितान्यादधे॥

पुत्रका यह कर्तव्य है कि पिताके सम्मुख सावधान होकर लोक-पालन-कलाका प्रदर्शन करे कि वह सत्पुरुषोंका हित कैसे करता है। भूमिनन्दन मंगल अपने पिता भगवान्‌के शुभागमनके अवसरपर सतर्कताके साथ नगर (मथुरा), ग्राम (नन्दग्राम), व्रज (गोकुल) और आकर (द्वारका) आदिको मंगलयुक्त बना रहे हैं—यह सर्वथा उचित ही है।

नदियोंके जल प्रसन्न क्यों ?

श्रीहरिसूरि कहते हैं कि भगवान्‌के अवतारके समय नदियोंके समुदायमें प्रसन्नता मूर्तिमान् होकर छलकने लगी। इसका कारण क्या था ? नदियाँ उत्साहमें भरकर कहती थीं कि ये वे ही आ रहे हैं, जिन्होंने सेतु-बन्धके व्याजसे हम लोगोंको ससुरालमें पितासे मिला दिया। सेतु-बन्धनके समय बड़े-बड़े पर्वत समुद्रमें डलवाये। समुद्र हैं पति और पर्वत हैं पिता। अब न जाने ये कौन-सा सुख-सौभाग्य लेकर आ रहे हैं। अतएव नदियाँ प्रसन्न होकर हृदयसे उनका स्वागत करने लगीं :

प्रक्षिप्तानेकभूभृन्निचय - परिचलद् - व्यस्तनीराधिवार्द्धौ
सेतूद्योगेन भव्यं जनकगृहसुखं येन दत्तं पुरा नः।
सोऽयं भूयोऽभ्युपेतस्तदनुपमसुखं लभ्यमस्मभ्यमस्माद्
भूयो भूयोऽप्ययत्नादिति ननु सरितः सुप्रसन्नास्तदासन्॥

आयाते क्वचिदेव सद्मनि निजे जामातरि प्रेमतः
कन्यामातुरतीव चेतसि भवत्यानन्द एतत्स्फुटम्।
सर्वत्रेति न चित्रमत्र यदभूत्सा भूमिरानन्दभाक्
सीताभर्तुरनामयाऽऽगमनमालक्ष्याऽखिलाधीशितुः॥

श्रीहरिसूरि एक उत्प्रेक्षा करते हैं कि पृथ्वी मन ही मन सोच रही है कि वामन भगवान् तो ब्रह्मचारी थे। भगवान् परशुरामने भी ब्रह्मार्पण कर दिया। फिर सीतापतिने तो सास ही बना लिया। इसलिए मुझे किसी अवतारमें सुख-सौभाग्य नहीं मिला, लेकिन इस अवतारमें वह अवश्य मिलेगा। अब मुझे निरापद श्रीकृष्णभोगकी प्राप्ति होगी। मानो यही सोचकर वासकसज्जिका नायिकाके समान पृथ्वीने मङ्गलमय शृंगार धारण कर लिया :

वर्णित्वाद्यदुपेन्द्रतोऽनुविहित - ब्रह्मार्पणाद्रामतो
यत्सीतापतितोऽप्यभून्न च सुखं श्वश्रूत्वतस्तादृशम्।
तत्सौभाग्यसुखं किलाद्य फलितं तद्भोगतोऽस्मिन् भवे-
दस्माद्वासकसज्जिकेव समभूद् भूमिस्तदाऽत्युज्ज्वला॥

पृथ्वी मंगलमयी हो गयी, यह कहनेका एक अभिप्राय यह भी है कि उसने प्रभुका सौभाग्यदायक आगमन जानकर अपने गलेमें मंगलसूत्र पहन लिया।

इसमें क्या सन्देह है कि सर्वंसहा पृथ्वी क्षमाशील होनेके कारण प्रभुकी कृपापात्र हो और उसके कण-कण मंगलमय हो जायँ।

श्रीहरिसूरिकी एक उत्प्रेक्षा और सुनिये :

पुत्रेणाखिललोकपालनकला संदर्शनीयाऽनिशं
स्वीया सर्वसदिष्टशर्मरुचये तातांय निस्तन्द्रितम् ।
युक्तं तत्किल मङ्गलोऽप्यविकलं संलक्ष्य तातागतिं
यद्ग्रामव्रजपूर्वनान्यवनिजः स्वार्थान्वितान्यादधे ॥

पुत्रका यह कर्तव्य है कि पिताके सम्मुख सावधान होकर लोक-पालन-कलाका प्रदर्शन करे कि वह सत्पुरुषोंका हित कैसे करता है। भूमिनन्दन मंगल अपने पिता भगवान्के शुभागमनके अवसरपर सतर्कताके साथ नगर (मथुरा), ग्राम (नन्दग्राम), व्रज (गोकुल) और आकर (द्वारका) आदिको मंगलयुक्त बना रहे हैं—यह सर्वथा उचित ही है।

नदियोंके जल प्रसन्न क्यों ?

श्रीहरिसूरि कहते हैं कि भगवान्के अवतारके समय नदियोंके समुदायमें प्रसन्नता मूर्तिमान् होकर छलकने लगी। इसका कारण क्या था ? नदियाँ उत्साहमें भरकर कहती थीं कि ये वे ही आ रहे हैं, जिन्होंने सेतु-बन्धके व्याजसे हम लोगोंको ससुरालमें पितासे मिला दिया। सेतु-बन्धनके समय बड़े-बड़े पर्वत समुद्रमें डलवाये। समुद्र हैं पति और पर्वत हैं पिता। अब न जाने ये कौन-सा सुख-सौभाग्य लेकर आ रहे हैं। अतएव नदियाँ प्रसन्न होकर हृदयसे उनका स्वागत करने लगीं :

प्रक्षिप्तानेकभूभृन्निचय - परिचलद् - व्यस्तनीरधिवार्द्धौ
सेतूद्योगेन भव्यं जनकगृहसुखं येन दत्तं पुरा नः।
सोऽयं भूयोऽभ्युपेतस्तदनुपमसुखं लभ्यमस्मभ्यमस्माद्
भूयो भूयोऽप्ययत्नादिति ननु सरितः सुप्रसन्नास्तदासन्॥

नदियाँ सहेलियोंकी तरह परस्पर बातचीत कर रही हैं : 'अरी, हमने गंगासे अनेक बार प्रार्थनाकी कि तुमने हम लोगोंके पिता अनेक पर्वतोंके चरणदर्शन किये हैं तो हमें भी अपने पिताके चरण विष्णुपदके दर्शन करा दो। किन्तु गंगाने एक न सुनी। अब देखो, वे आज स्वयं पधार रहे हैं, यह हमारा अहोभाग्य है!' यह विचार करके नदियाँ प्रसन्न हो गयीं :

दृष्टास्मज्जनकावनिध्रपदया संदर्शनीयं त्वया
हे मन्दाकिनि नः शुभं निजसमुद्भूतेर्निदानं पदम्।
एवं भूरितरार्थिताऽपि नहि सा प्रादर्शयद् द्वेषतः
स्पष्टं दृष्टमितोऽचिरेण भवितेत्यासन् प्रसन्नास्तु ताः॥

'वैसे तो हमारे पति समुद्रके निवास-स्थानमें नारायणरूपी श्रीकृष्ण सर्वदा सन्निहित रहते ही हैं। फिर भी हमने जामाताके रूपमें उनके दर्शन कभी नहीं किये कि वे कैसे हैं? क्या करते हैं? लक्ष्मीने उनका संवरण जो कर लिया है!'—नदियाँ आपसमें बात-चीत करती कहती हैं—'हे सखि! अब तो यह अन्तरकी दुर्लभ वासना बिना प्रयत्नके ही पूर्ण होनेपर आ गयी है।' बस यही सोचकर नदियोंने अपने नाम-रूपके वैभव प्रकट कर दिये और प्रसन्नसलिला होकर भगवान्का स्वागत करने लगीं :

नित्यं सन्निहितोऽपि भर्तृसदने नास्माभिरालोकितो
जामाताऽस्ति स कीदृशः स्वयमहो यः संवृतः पद्मया।
इत्यभ्यन्तरवासनामसुलभां निर्यत्नलभ्यामितो
निश्चित्य स्फुटनामरूपविभवास्ताः किं तथाऽऽसंस्तदा॥

नदियाँ इसलिए भी प्रसन्न हो गयीं कि हममें-से एक अर्थात् यमुनाके साथ इनका विवाह होनेवाला है। यमुनामें करेंगे जल-विहार और द्वारकामें बनायेंगे पटरानी। यमुनाके उदरसे कालिय-नागका उद्वासन करके उसका हृदय शुद्ध करेंगे और रासलीलाके बाद स्नान करेंगे। अक्रूरको नारायणरूपका दर्शन भी तो यमुनामें ही करायेंगे।

ह्रदोंको भी यही सोचकर अपार हर्ष हुआ कि यह हमारा शोधन-प्रबोधन करेंगे। इसलिए मानो वे प्रफुल्लित कमलोंके रूपमें अपने हृदयोंको प्रकटकर भगवान्‌का स्वागत करने लगे। एक ह्रदके प्रति कृष्णकी ममता हो, वे उसकी शुद्धि करें, उसमें दर्शन दें और उसे अपनी विहार-स्थली बनायें तो सब ह्रदोंका आनन्दित होना उचित ही है। ये ह्रद नहीं, दह्र हैं। उपनिषदोंमें 'दहर' ब्रह्मकी उपासनाका विधान है। 'दह्र' यानी हृदय। ये जल नहीं, जड़ भी नहीं, हृदय हैं।

वायु सुखस्पर्श हो बहने लगा

जो सर्वोपरि दयालु दाता परमेश्वरकी प्रीति चाहता है, उसे भी दाता होना चाहिए; क्योंकि समानशीलके साथ ही प्रीति होती है। यही जानकर श्रीकृष्णके जन्मावसर पर वायु सुखका दान करने लगा। संस्कृत भाषामें 'स्पर्श'का अर्थ दान भी होता है। उदार दाता भगवान्‌का प्रेमपात्र होता है।

गुणीके सामने गुण प्रकट करनेसे ही उसका समुचित मूल्यांकन संभव है। भगवान्‌के शुभागमनके अवसरपर अपना स्पर्शगुण प्रकट-कर वायुने यही तो किया। निश्चय ही भगवान् इस गुणीका गुण देख रीझेंगे।

भक्ति-रसायनमें एक उत्प्रेक्षा श्री हरिसूरिके शब्दोंमें सुनने ही योग्य है :

नित्योल्लसत्पद-मुकुन्दमुखारविन्द-
घर्मोद्बिन्दु - मकरन्द - रसैकपाने।
उत्तुङ्गभृङ्गगतिरस्तु ममानवद्ये-
त्यभ्यासधीः परिववौ स तदा नभस्वान्॥

वायु यह सोच उस समय शीतल, मन्द, सुगन्ध होकर बहने लगा कि जब नित्य प्रफुल्लित मुकुन्द-मुखारविन्दके स्वेदबिन्दुरूप मकरन्द-रसके पानका शुभ अवसर आयेगा, तो मैं प्रेमी मिलिन्दके समान निर्दोष रूपसे उसका पान कर सकूँगा। मानो इसीका अभ्यास करनेके लिए वायु सुख-स्पर्श होकर प्रवाहित हो रहा हो।

वायु देवता है। भगवत्प्राण है। उसने मानो धरतीके मनुष्योंको उपदेश दिया : 'प्रभुके प्यारे भक्तो, यदि आपके हृदयमें प्रभु-पद-दर्शनकी लालसा हो तो पुण्यका उपार्जन करें।' मानो सबको यही उपदेश देनेके लिए उसने अपना पुण्यगन्ध प्रकट कर दिया। क्या ही सुन्दर वचन है !

प्रभुपदेक्षणलालसता यदि सुकृतमेव हि तर्हि नरार्जय।
उपदिशन्निति सर्वजनान्निजं सुकृतगन्धमसावकरोत्स्फुटम्॥

वायुने अपने मनमें मानो ऐसा पवित्र विचार किया कि हनुमान् मेरे पुत्र हैं। रामावतारमें उन्होंने भगवान् रामकी भूरि-भूरि सेवा की। इससे मैं एक प्रकारसे अत्यन्त कृतार्थ हो ही चुका, कारण पुत्र अपनी ही आत्मा होती है। फिर भी इस कृष्णावतारमें स्वयं साक्षात्

उनकी कुछ सेवा करूँ, इसी भावसे अनुप्राणित वायु सदा सेवाका अभ्यास करने लगा :

पुत्रेण प्राग्घनुमता कृतयाऽस्य भूयः
शुश्रूषयाऽत्र भृशमस्मि कृतार्थ एव।
साक्षात्तथाप्यहमिहापि समाचरेयं
सेवामतः परिचचार तदा सदा सः॥

जगत्के स्वामी सन्तोंकी रक्षा करनेके लिए पृथ्वीतलपर अवतार ले रहे हैं। तब उदार-पूत, पुण्यात्मा वायु, जो कि जगत्का प्राण है, भला सुखी क्यों न हो ? वायुका सुखी होना और जगत्के प्राणियों-का सुखी होना, दोनोंमें ही औचित्य है।

भगवान् मरुद्गणको सुख देनेके लिए पधार रहे हैं, तब भला मरुत् सुखी क्यों न हों ?

अग्नि शान्त होकर प्रज्वलित होने लगा

अग्निदेवने सोचा कि सम्प्रति नारायण योगनिद्राका परित्याग-कर सज्जनोंके संरक्षणार्थ अत्यन्त उत्सुक हैं। अब वे लोकमें धन-ञ्जय (अर्जुन और अग्नि) की कीर्ति बढ़ायेंगे। भले ही उनका अभिप्राय अर्जुनपरक हो, किन्तु कीर्ति तो मेरे नामकी भी होगी ही। इस आनन्दसे भरकर अनलस अनल ज्वालाकलाप-कलित होकर अपनी कान्ति प्रकट करने लगे :

निस्तन्द्रं सुजनावनोत्सुकमना नारायणः सम्प्रति
प्राद्रुर्भूय धनञ्जयर्द्धिमतुलां लोके करिष्यत्यसौ।

अर्थः पार्थपरोऽस्तु तस्य वचसो नाम्नास्तु कीर्तिर्ममे-
त्यानन्दादनलस्तदा किल लसत्कीलाकलापो बभौ ॥

अग्निने प्रार्थना की : 'हे श्रीपते प्रभो ! हम रामावतारमें जानकी-जीको गोदमें बिठाकर शान्त हो गये थे। उसमें लोगोंने न हमारा सद्भाव माना, न आपका। कहने लगे कि अग्नि तो विदेह-नन्दिनीके पातिव्रत्य या प्रभुके क्रोध-भयसे शान्त हो गया था। आपके बारेमें भी लोगोंने कहा कि प्रभुने इस पर अहैतुकी कृपा नहीं की, जानकी-जीकी रक्षाका प्रत्युपकार ही किया। किन्तु अब सभी देख लें कि हम किसीके भयसे नहीं, स्वभावतः आपके लिए शान्त हैं। प्रभुको अपना यही भाव प्रकट करनेके लिए ब्राह्मणोंके यज्ञकुण्डस्थित अग्निदेव शान्त होकर प्रज्वलित होने लगे :

पातिव्रत्यभयाद् विदेहदुहितुस्त्वत्क्रोधभीत्याऽथवा
शान्तोऽसावनलः कृपापदमभूत्तेनैव ते श्रीपते।
शान्ता एव निसर्गतो वयममी स्मः सम्प्रतीति प्रभु-
ख्यात्यै शान्ततरार्चिषः समभवन् सर्वे द्विजात्यग्नयः ॥

अग्निदेवने विचार किया कि आगे भगवान् दो बार दावानल-पान करेंगे। हमारी ही जातिका कोई अग्नि-व्यक्ति श्रीपतिका 'मुख्य' हो जायगा। 'मुख्य'का अर्थ है प्रधान अथवा मुखस्थ। अपनी जाति-की इस उन्नतिकी कल्पना कर अग्निदेवता प्रेमसे प्रकाशित हो उठे।

यह अग्नि वैश्वानर हैं, विश्वनर हैं। वर्णाश्रम-धर्मके रक्षक प्रभु-के शुभागमन पर अपने-अपने धर्मके पालनमें उनकी निपुणता युक्ति-युक्त ही है।

अग्नि देवताओंका मुख है। मुखका शान्त होकर देदीप्यमान होना प्रसन्नताका सूचक है। अपने रक्षकके शुभागमनपर देवता लोग प्रसन्न हो रहे हैं। अग्निके शान्त होकर प्रज्वलित होनेका यह भी एक अर्थ है।

प्रेक्षावान् उत्प्रेक्षक महाकवि श्रीहरिसूरि अग्निके शान्त होनेपर साधारण जनताके लिए क्या ही सुन्दर उपदेश देते रहे हैं :

कंसाद्यैरसुरैर्बलादपहृतं स्वीयं हविर्वैभवं
लब्धं तत्पुनरच्युते समुदिते मत्त्वेत्यभूत् कान्तिमान्।
सम्प्राप्तेऽमितवैभवेऽपि सबले प्राबल्यतो धीमता
सन्त्याज्यो विनयो न जातुचिदपीत्यासीच्च शान्तोऽनलः॥

अग्निदेवका हविर्वैभव कंसादि असुरों द्वारा बलपूर्वक छीन लिया गया था। भगवान्का अवतार होनेपर वह फिर मिल जायगा—इस हर्षसे अग्निदेव चमक उठे। फिर भी यतः बुद्धिमान् पुरुषको सबल एवं अमित वैभव प्राप्त होनेपर भी उन्मत्त हो विनयका परित्याग नहीं करना चाहिए, इसीलिए अग्निदेव शान्तभावसे प्रकाशमान हो रहे थे।

साधुओंके मन प्रसन्न हो गये

विश्वमें सभीके मनमें सुख-दुःखकी लहरें उठती रहती हैं। कभी सुख तो कभी दुःख। किन्तु साधुओंका मन सदैव दुःखी रहता है। कोई कहता है : 'मनको मार डालो।' कोई कहता है : 'इसका निरोध करो। हृदयकी गुहामें इसे कैद कर लो।' ये साधु बेचारे मनको उसकी पत्नी इन्द्रियोंसे मिलने ही नहीं देते, भोग भोगने ही नहीं देते। भगवान्के अवतारके समय साधुओंके मन प्रसन्न हो गये। अब

परमात्मा मनसे परे न होगा। न मनको मारना पड़ेगा और न उसका निरोध ही करना पड़ेगा। अब तो वे बिना प्रयत्नके ही परमात्माके स्वरूपका दर्शन कर सकेंगे। मन भी अपनी पत्नी इन्द्रियोंके साथ भगवान्‌का भजन कर सकेगा। अतएव साधुओंके मन प्रसन्न हो गये। साधु तो सुखी हुए ही, उनके मन भी सुखी हो गये। देखिये हरि-सूरिका भक्तिरसायन, अध्याय ३, श्लोक ५४।

भगवान् बहुत-से अवतार ग्रहण करते हैं, परन्तु उन्हें न पहचाननेके कारण साधुओंके मनको अपार कष्ट होता है। इसीसे कृष्णावतारमें प्रभुने वसुदेवके मनमें प्रवेश किया। पहचाने गये। मन-मन तो एक ही हैं। इस प्रकार अवतार ग्रहण करनेपर सभी लोग पहचान लेंगे। इसलिए साधुओंके मन प्रसन्न हो गये। भगवान्‌का अवतरण सुमनस्‌को सुख देनेके लिए है। सुमनस् अर्थात् शुद्ध-मन, देवता, पवित्रमना साधक और लता-पुष्प। स्वाभाविक ही है, उनके अवतारके समय सुमनस् प्रसन्न हों। संस्कृत भाषामें 'माधव' शब्दका अर्थ 'श्रीकृष्ण' और 'वसन्त' दोनों हैं। 'माधव आया' सुनकर उपवनमें, स्वर्गमें, सन्तोंमें सुमनस् सामोद हो गये। 'आमोद' अर्थात् आनन्द और सुगन्ध।

यहाँ मूलमें 'साधूनाम्'का विशेषण है 'असुरद्रुहाम्'। इस विशेषणका सामान्यरूपसे ऐसा अर्थ प्रतीत होता है, जैसे साधु असुरोंके द्रोही होते हों : 'असुरेभ्यो द्रुह्यन्ति इति।' किन्तु इसका सम्प्रदाय-परम्परागत अर्थ दूसरा है : 'द्रुह्यन्ति इति द्रुहाः, असुरा द्रुहो येषां ते असुरद्रुहस्तेषाम्।' अभिप्राय यह कि असुर ही साधुओंसे द्रोह करते हैं, साधु असुरोंसे नहीं। साधुओंके हृदयमें परमात्मा रहते हैं, असुर नहीं।

किन्नर-गन्धर्व गान करने लगे

किन्नर आनन्दसे भरकर गान करने लगे। उनके मनमें यह भाव उदय हुआ कि प्रभु अबतक तो सन्नरोंकी ही रक्षा करते थे; अ, किन्नरोंकी भी रक्षा करनेके लिए आ रहे हैं (सन्नर=सत्पुरुष, किन्नर=कुत्सित पुरुष)। गन्धर्वोंने परस्पर चर्चा की कि भगवान्का जगत्में अवतार लेना गन्धर्वोंके लिए महान् सौभाग्यका विषय है; क्योंकि वीतराग पुरुष जगत्को मिथ्या बतानेके लिए 'गन्धर्वनगर'की उपमा दिया करते हैं। अब वे उसो जगत्को गन्धर्वनगरके समान कहेंगे, तो हमारे नगरका कितना अधिक गौरव बढ़ जायगा ?

मेघ मन्द-मन्द गर्जन करने लगे

अपनी गर्जनाके बहाने मेघ समुद्रसे कहने लगे : 'हे सागर ! यह तुम्हारे सान्निध्य और उपदेशका ही फल है कि हम भी तुम्हारी तरह जलके धनी बन गये। अब हमें वह उपाय बताओ, जिससे हम भी तुम्हारी तरह भगवान्के प्रिय बन जायँ। जैसे तुम्हारे भीतर भगवान् निवास करते हैं, वैसे ही हमारे भी अन्तरमें वे निवास करें। श्रीहरिसूरिके इस भावका रसास्वादन कीजिये :

सागर त्वदुपदेशफलं तद्यद्वयं बहुजडस्थितयः स्मः।
तत्तथा वद यथा त्वमिवास्मिंस्तत्प्रिया वयमपि प्रभवामः॥

इस श्लोकमें 'उपदेश' शब्दका अर्थ 'देशसामीप्य' और 'जड़' शब्दका अर्थ 'जल' भी है।

मेघ मन्द-मन्द स्वरसे क्या कह रहे हैं ? यह सुनिये श्री हरिसूरिके शब्दों में :

मद्दस्वायत्तवृत्तिर्यदसि घन ततो मद्वदत्यक्तवेलो
वर्तस्वेत्युक्तिमब्धेस्तदुदितरवतस्तर्कयन्नम्बुवाहः ।
सन्मार्गस्थः सविद्युद्वसुद इह मरुद्योगतः सञ्चरामि
सूर्याद्युत्कृष्टतेजा इति स किमवदन्मन्दमन्दस्वरेण॥

'समुद्र ! तुम अपनी गर्जना द्वारा हमें यही उपदेश दे रहे हो न कि देखो बादल ! तुम्हारी जीविका मेरे जलधनके अधीन है। इसलिए तुम्हें भी मेरी ही तरह वेला (मर्यादा) का त्याग किये बिना व्यवहार करना चाहिए। ठीक है, हम समझ गये। देखो, सन्मात्रमें स्थित विद्युत्, वसु और मरुत् हमारे साथ हैं। सूर्यादि ज्योतियोंको भी हम ढँक सकते हैं।' मानो मन्द-मन्द स्वरसे बादल यही कह रहे हैं।

रामावतार सूर्यवंशमें हुआ। अब कृष्णावतार चन्द्रवंशमें हो रहा है। दाहिने और बाँये दोनों नेत्र समान ही तो हैं। सौर मार्ग और चान्द्र—उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों ही प्रभुको इष्ट हैं। इसलिए पहला अवतार उत्तरायणमें हुआ तो दूसरा अवतार दक्षिणायनमें। वराह, नृसिंह आदि अवतार उग्र हैं। इस सोमवंशी अवतारको ही 'सौम्य' कह सकते हैं। भगवान्‌के सैकड़ों अवतार होते हैं। कोई-कोई अत्यन्त शान्त (जैसे : हंस, कपिल) तो कोई-कोई अत्यन्त उग्र (जैसे : नृसिंह, वराह)। किन्तु यह कृष्णावतार क्रूरके लिए क्रूरतर और सौम्यके लिए सौम्यतर है।

श्रवणसे मिलते हैं कृष्ण, इसलिए चान्द्र मासकी रीतिसे श्रावण-मासके कृष्णपक्षमें उनका जन्म हुआ। उनका स्वरूप है भद्र, अतः भाद्रपदमें जन्म लेना उचित ही है। अष्टमी-भूमिकाके समान अष्टमी है। कृष्णका पक्ष है और सात पहले एवं सात बादमें तिथियाँ हैं, मध्यमें अष्टमी। मध्यमें ही भगवान्‌का जन्म होता है।

समय था निशीथ

गीताका कहना है कि संयमी पुरुष निशामें जागता है। क्यों ? उसमें ईश्वरके दर्शन होते हैं। इस वचनकी यथार्थता प्रकट करनेके लिए ही भगवान् निशामें प्रकट हुए।

निशापति चन्द्रमाके वंशमें जन्म लेना है तो निशाके गर्भसे ही लेना चाहिए और वह भी निशाके मध्य। अतएव निशीथ (अर्धरात्रि) में भगवान्का जन्म हुआ। कृष्णपक्ष, मध्यवर्तिनी अष्टमी जयातिथि ! उस दिन चन्द्रोदय भी निशीथमें ही होता है। इसीलिए श्रीकृष्णचन्द्र-का जन्म भी निशीथमें हुआ। संस्कृत भाषामें 'विधु' शब्दका अर्थ 'विष्णु' और 'चन्द्रमा' दोनों है। इन उत्प्रेक्षाओंके साथ-साथ श्रीहरि-सूरिकी एक सूक्तिका और आनन्द लीजिये :

नास्माद्रुद्धाधिकारात् कथमपि जनकाज्जातकं स्यान्मदीयं
तस्मात् संपाद्यमाद्यान्वयपुरुषकरस्पर्शतः सम्प्रतीति।
आलोच्यैवाच्युतोऽसौ समजनि समये तादृशे एव यस्मि-
न्नागन्ताऽसौ लसद्गुर्ध्रुवमिह सकलात्माब्धिवाराप्लुतश्च ॥

भगवान्ने अपने मनमें विचार किया कि मेरे पिता वसुदेव कारागारमें बन्द हैं। इसलिए वे मेरा जातकर्म नहीं कर सकते। तब क्या करना चाहिए ? वंशके आदिपुरुष चन्द्रमाके कर (किरण)-स्पर्शसे ही वह संस्कार सम्पन्न कराया जाय। अतएव उन्होंने ऐसे समय जन्म लिया, जब चन्द्रमा समुद्रजलमें स्नानकर अपनी रश्मिरूप गायोंके साथ सकलात्मा—पूर्ण होकर उदित हो रहे हैं।

रोहिणी भगवान्‌के पुत्र ब्रह्मदेवका नक्षत्र है। अपने जन्मके लिए उसीको चुनकर भगवान्‌ने पिता-पुत्रका अभेद सूचित किया, जैसा कि श्रुतिने कहा है : आत्मा वै पुत्र नामाऽसि।

ब्रह्माके जीवनमें जो सृष्टि-निर्माणकी निपुणता है, वह मानो रोहिणी नक्षत्रमें जन्मका ही फल है, यह सोचकर भगवान्‌ने भी यदु-वंशका विस्तार करनेकी इच्छासे रोहिणी नक्षत्रमें ही जन्म लिया।

बलराम ज्येष्ठ हैं, परन्तु कृष्णकी माता देवकी और रामकी माता रोहिणी—यह माताका भेद बलरामजीके लिए खेदजनक न हो जाय, इस अभिप्रायसे श्रीकृष्णने रोहिणीमें ही जन्म लेना उचित समझा।

जन्मके समय प्रभुके ध्यानमें आया कि रोहिणीका पेट खाली होनेपर भी मैं स्वयं उसमें नहीं गया। बलरामजीको योगमाया द्वारा देवकीके पेटसे निकालकर रोहिणीके पेटमें भेजा। इस कारण रोहिणीके मनमें असन्तोष हुआ होगा। इसलिए अब मुझे रोहिणी नक्षत्रमें अवतीर्ण होना चाहिए।

मैं देवकीकी ही तरह वसुदेवकी रोहिणी आदि अन्य पत्नियोंका भी मातृवत् आदर करता हूँ, यह भाव प्रकट करनेके लिए श्रीकृष्णने रोहिणीमें जन्म लिया।

भगवान्‌का आविर्भाव हुआ

'आविर्भाव' शब्दका अर्थ है, विद्यमानका ही प्रकट होना। जन्म-में केवल भगवान्‌का अन्वय ही है, उत्पत्ति नहीं।

जैसे साधक अपने हृदयमें भगवान्के आविर्भावका ध्यान करनेसे पूर्व शास्त्रोक्त-पद्धतिसे भूतशुद्धि करता है, वैसे ही श्रीकृष्णके अवतरणके पूर्व प्रकृति-नायिकाने अपनी हृदयशुद्धिके लिए भूतशुद्धि कर ली। यही कारण है कि मही मंगलमयी, जल प्रसन्न, अग्नि शान्त, वायु सुखस्पर्श, गगन निर्मल-तारक यह सारा वर्णन किया गया। इतना ही नहीं, दिशाओंका प्रसाद और कालका सर्वगुणयुक्त होना भी वर्णित हुआ। मनकी निर्मलता और मुनि-देवतारूप आत्माकी सुमनस्-त्यागरूप आत्मशुद्धिका भी वर्णन है। इस प्रकार न्याय-शास्त्रोक्त समस्त नव द्रव्योंकी शुद्धिका वर्णन हो जाता है।

ब्रह्म सामान्यरूपसे विद्या और अविद्या दोनोंका प्रकाशक है। वह किसीका भी विरोधी नहीं। अतएव वह न किसीका निवर्तक है और न प्रवर्तक है। वह भासमानके भावाभावका अधिष्ठान ही है। किन्तु वही जब महावाक्य-श्रवण, पदार्थ-शोधन और लक्षणा आदि द्वारा वृत्यारूढ़ होता है, तब अविद्याकी निवृत्तिमें समर्थ होता है। अन्तमें न वृत्ति रहती है, न आरूढ़ता। इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म अथवा ईश्वर अविद्या-मायाका निवर्तक नहीं प्रकाशक और अधिष्ठान ही है। जब शुद्ध-अन्तःकरणरूप वसुदेव और शुद्धबुद्धिरूपा देवकीके संयोगसे ब्रह्मका अवतरण होता है, तब वे पूतना-कंसादिरूप अविद्या एवं तत्कार्योंकी निवृत्ति करते हैं। जैसे आरूढ़ चेतन ही अविद्याका निवर्तक है, वैसे ही अवतीर्ण चेतन ही दुःख-दोषादिका निवर्तक होता है। अविद्याकी निवृत्तिके लिए सामान्य ईश्वर-विश्वास पर्याप्त नहीं है; उसका अभेदेन अपरोक्ष साक्षात्कार भी अपेक्षित है। भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका यही अभिप्राय है।

•

पूतनाउद्धार-लीला

आचार्य वल्लभके मतसे पूतनाउद्धार-लीला प्रमाणप्रकरणके अन्तर्गत आती है। इस लीलाके द्वारा भगवान्के वीर्यका निरूपण है। उनका एक-एक काम अनेक-अनेक प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिए होता है। पूतना अविद्या है। वृत्त्यारूढ़ ज्ञानके समान अवतीर्ण भगवान् उसका नाश करते हैं। दुष्टका निरोध होता है। दुष्टाको भी सद्गति मिलती है। बालकोंकी रक्षा होती है। नन्दादि भक्तोंके

हृदयसे वसुदेववाक्य-जनित भयका निराकरण होता है। पूतनाकी मृत्युसे भक्तोंके बाह्य भयके निवारणके साथ भगवान्के अनुग्रहसे अत्यन्त अनधिकारी जीवनका भी कल्याण हो जाता है।

नन्दबाबाके हृदयमें सत्यवादी वसुदेवके इस वचनपर कि गोकुल-में उत्पात हो रहे हैं, पूर्ण विश्वास है। इसलिए उन्होंने मन ही मन भगवान्की शरण ग्रहण की। सत्पुरुष विपत्तिके समय भगवान्का ही पल्ला पकड़ते हैं। यहाँ 'शरण' शब्दका अर्थ अपना घर भी होता है। जैसे मनुष्य आँधी-तूफान आनेपर अपने-अपने घरमें घुसकर सुरक्षित हो जाता है, वैसे ही नन्दबाबा अपने परम आश्रय भगवद्भवनमें प्रविष्ट हो गये। गोकुल तो दूर था, परन्तु यह घर तो सर्वथा अपने हृदयमें ही था। सच है भक्तोंके एकमात्र शरण (गृह और रक्षक) भगवान् ही हैं।

विघ्न-बाधा-राक्षसी वहीं अपना बल प्रकट कर सकती है, जहाँ भगवान्के रक्षोघ्न श्रवण-कीर्तनादि न हों। जहाँ स्वयं भगवान् ही विराजमान हैं, वहाँ उत्पातका क्या भय है ?

श्रीहरिसूरि कहते हैं कि कंसने अपने मनमें विचार किया कि जो बालक मुझ सरीखे वीरका वैरी होकर प्रकट हुआ है, वह अपूत = अपवित्र, न = नहीं हो सकता (न और अ दोनों कट गये) इसलिए वह अवश्य ही पूत होगा। उसको लानेके लिए पूतना (पूतं नयति) को भेजना ही उचित होगा। 'पूतना' शब्दका यह भी अर्थ सर्वमान्य है कि वह अविद्यारूप होनेके कारण बड़े-बड़े पूतात्मा अर्थात् पवित्रात्माओंको भी अभिमानके वशमें करके उड़ा ले जाती है।

पूतनाने गोकुलके साथ अपना मेल मिलाया। स्थान है गोकुल अर्थात् इन्द्रियोंका कुल और मैं हूँ खेचरी अर्थात् इन्द्रियोंमें विचरने-वाली। 'ख' और 'गो' दोनों एक ही तो हैं, इसलिए उसने वहाँ जानेका निश्चय किया।

वह नन्दादि गोपोंके मथुरा जानेपर गोकुल गयी। इसका अभि-प्राय है कि अच्युतबलशाली (अत्यन्त बलयुक्त अथवा कृष्ण और बलरामसे युक्त) गोकुलको भी केवल अबला (स्त्री) गणसे युक्त मान लिया। क्यों न हो, बकी जो थी।

उसने हेमाङ्गना अर्थात् स्वर्णवर्णा प्रमदाका रूप धारण किया। इसका अभिप्राय यह है कि गोकुल (गोकुल गाँव या इन्द्रिय समूह) को मोहित करनेके लिए सोना और स्त्री दो ही साधकके चित्तको मोहित करते हैं, इसलिए उसने सुवर्णाङ्ग वराङ्गनाका रूप धारण किया। क्या सुन्दर सूक्ति है!

हेमाङ्गने एव विमोहनैकतात्पर्यहेतू खलु गोकुलस्य।
सा मन्यमानैवमुरीचकार रूपं सुवर्णाङ्गवराङ्गनायाः॥

वह अपने श्रृंगार, सौन्दर्य, हाव-भाव, चितवन, मुसकान एवं मीठी वाणीसे गोकुलवासियोंका मनोहरण करती हुई आगे बढ़ी; क्योंकि वह सुमनोवर = देवशिरोमणि श्रीकृष्णका हरण करना चाहती थी। कोई भी योषित अनङ्ग भावकी प्राप्तिके लिए अपने पतिके पास जाती है। ठीक है, उसे अनङ्ग–कामकी प्राप्ति नहीं हुई तो क्या, अनङ्ग (अङ्गरहित = मृत्यु अथवा मोक्ष) तो मिला। उसका भाव तो अमङ्गल था, परन्तु रूप मंगलमयी श्रीका धारणकर श्रीकृष्णकी

ओर चली; इसीसे सद्‌गतिकी प्राप्ति हुई। श्रीका रूप धारण करना एक शकुन है। साक्षात् लक्ष्मीका दर्शन लोकमें दुर्लभ है, इसलिए उसका कृत्रिम रूप लोगोंके आकर्षणका कारण बन गया।

वेदान्तकी रीति यह है कि पहले 'नेति नेति' निषेध-वचनके द्वारा नाम-रूपात्मक विश्व-प्रपञ्चका निषेध करके व्यतिरेक मुखसे परमात्माको जाना जाय। पीछे अन्वय दृष्टिसे–विधिमुखसे 'सब परमात्मा है', ऐसा अनुभव किया जाय! परन्तु इसने निषेध-वचनपर तो ध्यान दिया नहीं, पहले ही विधि अथवा विधिविधानको आगे रखकर गोकुल (इन्द्रियों) में भगवान्‌को ढूँढ़ने निकल पड़ी। इसीसे यह गति हुई।

भगवान् श्रीकृष्ण भस्माच्छन्न अग्निके समान अपनी श्याम-दीप्तिसे आच्छन्न होकर पर्यङ्कपर विराजमान हैं। अजी, अग्निके सामने विष या दुर्विषयकी क्या दाल गलती है?

उसको देखकर माताएँ आश्चर्यचकित रह गयीं। उनकी दृष्टि श्रीकृष्णसे हटकर पूतनापर चली गयी। यह बात श्रीकृष्णको पसन्द नहीं है। उन्होंने निश्चय किया कि जिसपर भक्तकी दृष्टि है, उसकी गोदमें मेरा जाना आवश्यक है। वह किसी दूसरे बालकका अनिष्ट न करे, इसके लिए मेरी ओर आकृष्ट होना भी अपेक्षित है। समझ-बूझकर उन्होंने अपने नेत्र बन्द कर लिये, इसपर श्रीहरि सूरिकी काव्यधारा बड़े वेगसे बह निकली है। कुछ उदाहरण देखिये :

सर्वज्ञ प्रभुने अपने स्वच्छन्द लीला-विहारमें भी यह संकेत दिया कि जब परमात्मा सुषुप्तिका अनुकरण करता है अर्थात् अज्ञात रहता

है तभी मनुष्यकी अनार्य स्वच्छन्द प्रवृत्ति पापप्रद होती है, अन्यथा नहीं। आँख मींचनेका यही भाव है :

> सुतानुकारिणि मयीह भवत्यनार्य
> स्वैरप्रवृत्तिरघदा किल नान्यथेति।
> तत्तादृशस्थितितया प्रभुणा व्यबोधि
> तत्स्वैरसंविहरणेष्वपि सर्ववेत्रा॥

एक शब्दालङ्कारका आनन्द लीजिये—ह्यस्तन (अतीत कल), श्वस्तन (आगामी कल), स्वस्तन (अपना स्तन)। कल देखो नहीं, कल देखूँगा नहीं। न भूतमें रही, न भविष्यमें रहेगी; तब आज यह अपने स्तनोंमें विष लगाकर आयी है, यह देखनेकी क्या आवश्यकता है ?

श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि मैं केवल अपनी रक्षा कर लूँ या त्रिलोकीके त्रैकालिक अखिल बालकोंका पालन करूँ। अन्तर्दृष्टिसे यही देखनेके लिए दीनत्राणपरायण अकारणकरुण बालैक-कल्याणदर्शी प्रभुने दुष्टनिरोधकी दृष्टिसे नेत्र बन्द कर लिये।

> कार्यं स्वावनमेव केवलमितः किं वा त्रिकालोदिता-
> त्रैलोक्याखिलबालपालनमपीत्यन्तर्दृशा वीक्षितुम्।
> दीनत्राणपरायणोऽतुलकृपो बालैककल्याणदृग्
> दुष्टध्वंसनदीक्षितः किमु विभुस्तादृक्तयाऽऽसीत्तदा॥

"यह कामिनी अन्धी हो गयी है। पिलाना चाहती है दूध और रूप धारण करके आयी है पत्नीका। मूर्खे! मैं जान-बूझकर

दूध पिलानेवालीके पत्नीरूपको क्यों देखूँ ?" इसलिए आँखें बन्द कर लीं।

भगवान्‌ने अपनी आँखें इसलिए बन्द कीं :

ऐहिकं तु नहि साधनमस्या दृश्यतेऽण्वपि पुरातनमस्ति।
किं नवेति भगवान् ध्रुवमन्तश्चिन्तनाय कृतनेत्रपिधानः॥

कि इसने वर्तमान जन्ममें तो थोड़ा-सा भी कोई साधन नहीं किया। इसने पूर्वजन्ममें कोई साधन किया है या नहीं, यह अपने हृदयमें विचार करनेके लिए आँखें बन्द कीं।

यदि मनुष्यके जीवनमें अतर्कित रूपसे कोई ऐसा काम करनेका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय जो पहले कभी न किया हो तो बुद्धिमान् पुरुषको आँख बन्द करके उसका निर्वाह कर लेना चाहिए। जैसे कि कड़वा घूँट पीते समय करते हैं। क्या इसी लौकिक पद्धतिका अनुसरण करके श्रीकृष्णने इस पापिनीके हाथोंका संस्पर्श सहन किया ? देखिये मूल संस्कृत।

अनायत्याप्राप्तः क्वचिदपि पुरा यो न विहितः
प्रसङ्गश्चेत्तस्या वहनमिह कार्यं मतिमता।
निमील्याक्षीत्येवं जनसरणिमालोच्य किमसौ
तथा चक्रे कर्तुं तदघकरसंस्पर्शवहनम्॥

प्रभुने यह विचार किया कि बड़े-से-बड़े अनिष्टको निवृत्त करनेमें भी योग समर्थ है। इस क्षुद्रदृष्टि पूतनामें क्या रखा है, इसलिए नेत्र बन्द करके श्रीकृष्ण योगस्थ हो गये।

भगवान्‌के उदरवर्ती लोक व्याकुल हो गये। उनमें हाहाकार मच गया कि यह दूधके बहाने प्रभुको विष पिलाना चाहती है। यदि उन्होंने पी लिया तो आगे हम लोगोंकी क्या गति होगी ? मुझे ऐसा लगता है कि उन्हीं लोकवासियोंको अभयदान करनेके लिए प्रभुने नेत्रसम्मीलन कर लिया :

दातुं स्तन्यमिषाद्विषं किल धृतोद्योगेऽयमास्ते यतः
पीतं चेत्प्रभुणा पुरो बत गतिः का वास्मदीया भवेत्।
इत्थं व्याकुलतान्निजोदरगतानालोक्य लोकान्प्रभु-
र्वक्तुं भात्यभयप्रदानवचनं चक्रेऽक्षिसम्मीलनम् ॥

जो स्त्री लोगोंमें माताका भाव दिखाये, मीठे वचन बोले; परन्तु अपने विषैले हृदयमें क्रूर हो, उसका मुख नहीं देखना चाहिए, यह शिक्षा देनेके लिए ही मानो कृष्णने नेत्र बन्द कर लिये।

यदि करुणा-दृष्टिसे इसे देखूँगा तो यह निष्पाप हो जायगी। इस प्रकार दोनों ही दशामें इसके हृदयमें वासना-संस्कार शेष रह जायँगे और पुनर्जन्मकी प्राप्ति होगी। वह न हो, यही विचार करके कृपालु कृष्णने अपने नेत्र बन्द कर लिये।

दृष्टा चेत् करुणादृशेयमनघास्याच्चोग्रया भस्मसा-
देवं चेदवशिष्यते ह्युभयथा तद्वासनासंस्कृतिः।
एतस्या हृदये तथा च भविता जन्मान्तराप्तिः पुनः
सा माभूदिति दीर्घदृष्टिरकरोदीशः स्वदृङ्मीलनम् ॥

यह उत्प्रेक्षा कितनी आनन्ददायक है, रसास्वादन कीजिए :

अस्यै दुष्टान्तरायै रिपुहितमतये कामपीशो न दद्या-
न्निम्नां वा प्रोन्नतां वा गतिमिह यदसौ सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः ।
आवाभ्यां स्वात्ममार्गौ मुनिसुजननुतो दीयते नेति मन्ये
श्रैशं चक्रेऽक्षियुग्मं रविविधुलसितं पक्ष्मसद्द्वारगुप्तिम् ॥

भगवान्ने कुछ नहीं सोचा । सूर्यचन्द्रोल्लसित श्रीकृष्ण-नेत्रोंने ही यह विचार किया कि श्रीकृष्ण तो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सर्वेश्वर हैं। वे इस दुष्टहृदया शत्रुहितकारिणी पूतनाको सद्गति दें या दुर्गति, वे जानें । हम दोनों अपने सूर्यमार्ग (देवयान) या चन्द्रमार्ग (पितृयान)से इनको सद्गति नहीं दे सकते । इसलिए नेत्रोंने ही अपने मार्ग बन्द कर लिये ।

पूतनाके नेत्र भी तो नेत्र ही हैं । भगवान्के नेत्रोंने सोचा—'हमें तो जातीय पक्षपातसे मुक्त रहना चाहिए; क्योंकि ये राक्षसीके मुखकी शोभा बढ़ाते हैं; हम इन्हें नहीं देखेंगे ।

भगवान्के नेत्रमें निमि बैठे हैं। उन्होंने कहा—'चराचरात्मा प्रभु भले इस दुष्टाको अन्तर्दृष्टिसे देखें, यह बहिर्दृष्टिसे देखने योग्य नहीं है।' उन्होंने ही नेत्र बन्द कर लिये ।

"यदि मैं अपने सूर्याश्रित और चन्द्राश्रित नेत्रोंसे इसे देखूँगा तो यह तामसी निशाचरी पहचान ली जायगी और मर जायगी। तब लीला कैसे होगी ?" यही सोचकर कृष्णने नेत्र बन्द कर लिये ।

भगवान्के नेत्र राजहंस हैं । उन्होंने इस बकीका मुख नहीं देखा, यह सर्वथा युक्तियुक्त है। महात्मा लोग अयोग्यके दर्शनके लिए उत्कण्ठित नहीं हुआ करते ।

'यह निशाचरी दूध पिलानेके बाद मेरे वन्दनीय पूर्वज हरिणाङ्क चन्द्रमाके समान हो जायगी; इसलिए पहले ही इसे हरिणाङ्क बना दो', यह सोचकर श्रीहरिने उसके अंकका आश्रय लिया–'**हरिणा अंकम्।**'

इस प्रसङ्गपर श्रीजीवगोस्वामीजी महाराजने कुछ भाव लिखे हैं :

१. बाललीलामें शिशुका नेत्र बन्द रहना ही स्वाभाविक है।

२. भीरुता प्रकट होती है।

३. ऐसी दुष्टाका दर्शन न करना ही अभीष्ट है।

४. यदि भगवान् देखें तो उनकी दृष्टि स्वभावसे ही ऐसे दुष्टोंका दमन कर दे।

५. कल्याणनिधि भगवान् पूतनाका साक्षात् वध करनेमें लज्जित होते हैं—और उस लज्जाके आच्छादनके लिए नेत्र बन्द करते हैं।

६. भगवान्‌का हृदय इतना कोमल है कि मरते समय पूतनाकी विकलता और छटपटी नहीं देख सकते।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीने भी प्रायः इन्हीं भावोंको दुहराया है।

श्री हरिसूरि कहते हैं कि 'प्रभो ! जब आपके पास पूतना आयी तब माता, गोपी अथवा गोप किसीने भी उसको नहीं भगाया, यह देखते हुए भी मुझे अपने भाई-बन्धुओंके सहारे क्यों छोड़ते हो ? जब तुम्हारे ही भाई-बन्धु तुम्हारे काम नहीं आये तब मेरे भाई-बन्धु कहाँसे मेरे काम आयेंगे ?'

इसके बाद पूतनाने अपना विषदिग्ध स्तन श्रीकृष्णके मुखमें डाल दिया। भगवान्‌ने विचार किया कि 'क्षीरसागर या स्तनका समग्र विष तो शंकर ही पीते हैं : परन्तु अन्तरका विष तो मैं ही पी सकता हूँ और कोई नहीं।' इसलिए उन्होंने स्वयं पान किया।

'गरुड़ और शेष मेरे सेवक हैं। विषाशन शंकर मेरी वन्दना करते हैं। इस जरा-से विषमें क्या रखा है?'

'जैसे सजल मेघ अत्यन्त शोभायुक्त होता है, वैसे मैं भी इसके स्तनका विष धारण करके अत्यन्त सुषमाशाली हो जाऊँगा।'

'जैसे लक्ष्मी पयोधिजा हैं, वैसे ही विषश्री भी पयोधिजा है। श्रीधर तो एक मैं ही हूँ।'

'विष किञ्चित् भी शेष न रह जाय', इसके लिए सम्मर्दनपूर्वक पान किया।

'स्तन तो सबके जीवनका हेतु—दुग्ध देता है। यह विष क्यों दे रहा है? दुष्ट पूतनाका संग ही इसमें कारण है।' इसलिए निर्दय पीडन किया।

सविषा पूतनाको देखकर श्रीकृष्ण सरोष हो गये। सुरोचितका 'रो' है कृष्णमें, विकारका 'वि' है सविषामें।

समुद्रका विष पीनेवाले शंकरसे कृष्णने अपनी विशेषता दिखायी। पूतनाका विष पीकर उसे मोक्षामृतका दान किया।

इसके प्राणोंमें ही विशेष शक्ति है जो विषके साथ भी निरामय रहते हैं। इसलिए इन प्राणोंका संग्रह करना भी आवश्यक है जिससे विषका वीर्य व्याप्त न हो।

इस प्रसङ्गमें मूल देखनेसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि रोषसमन्वित प्रभुने प्राणोंके साथ स्तनका पान किया। अभिप्राय यह है कि रोष अर्थात् रोषाधिष्ठातृ रुद्रने प्राणोंका पान किया और श्रीकृष्णने केवल पयोमृतका। नेत्र बन्द करके सम्भवतः इसीलिए रुद्रका आह्वान किया था।

पूतनाका मातृभाव है तो स्तनका विष भी अमृत हो जायगा। वात्सल्य-स्नेहका प्रभाव—स्वभाव ऐसा ही है। मेरा पुत्र-भाव है तो दूध पीनेमें क्या शङ्का? ऐसी स्थितिमें पूतनाको मारनेसे मैं मातृघ्न हो जाऊँगा। यह सोचकर श्रीकृष्णने उसके प्राणापहरणके लिए क्रोधाधिष्ठाता-देव रुद्रको अपने साथ कर लिया।

जिसका हृदय विषमित है अर्थात् भेद-भाव, राग-द्वेषसे युक्त अथवा विषाक्त है, उसको तत्काल वैसा फल भोगना ही पड़ता है। पूतनाके चरित्रमें यह बात स्पष्ट है।

कोई कितना भी कुमार्गगामी हो विषमस्वभाव हो, चाहे जिस किसी भावसे मुझे अपने हृदयमें धारण करे उसे मैं भव-बन्धनसे मुक्त कर देता हूँ!

इस विषयमें श्री हरिसूरिकी एक अन्य सूक्ति सुनिये—

कश्चित् प्राणापहारावधि दुरपकृतिं दुर्जनः सञ्चिकीर्षुः
प्राप्तश्चेदप्यमुष्मिन्नुपकृति - निरतेनैव भाव्यञ्जनेन।

श्रीखण्डेनेव साधूनिति किल भवता हृत्स्थितं ज्ञापयित्रा
पापिन्यां पूतनायामुपकृतमपरं नैव बीजं प्रतीमः ॥

कोई दुर्जन भले प्राणापहारपर्यन्त अपकार करनेकी इच्छासे आया हो तो भी सज्जन पुरुषको सब प्रकारसे उसका उपकार करना ही चाहिए जैसा कि श्रीखण्ड करता है। प्रभो ! साधु पुरुषोंको अपने हृदयकी यही बात बोधन करनेके लिए आपने पापिनी पूतनाका भी उपकार किया। हमें इसका कोई दूसरा हेतु प्रतीत नहीं होता।

प्रभुने उसको निर्विष और निर्विषय दोनों ही बना दिया। पूर्व संस्कारके कारण ही उसका शव बड़ा हो गया।

नास्तिकोंके छह दर्शनके अनुसार उसका षाट्कौषिक शरीर छह कोसके वृक्षोंको तोड़कर धरतीपर गिरा।

गोपियाँ नन्दलालको पूतनाकी छातीपर चढ़कर उठा लायीं ! गोपोंका साहस नहीं हुआ। प्रेममें कितनी शक्ति है !

भगवान्‌की रक्षा करनेके लिए गोखुरकी धूलि, गोमय, गोमूत्र और गोपुच्छ काममें लाये गये। पहले गायोंसे भगवान्‌ने अपनी रक्षा करवा ली, फिर उनकी रक्षा की।

भगवंस्त्वदपेक्षयापि शक्तिस्तव-नाम्नि प्रबलेति मन्महे।
त्रिजगत्कृतरक्षणस्य तेऽपि यदभूद्रक्षणकारि गोकुले ॥

भगवन् ! हमारा पक्का निश्चय है कि आपकी अपेक्षा भी आपके नामकी शक्ति प्रबल है। आप तीन लोकोंकी रक्षा करते हैं और

गोकुलमें आपका नाम आपकी रक्षा करता है। इसीसे गोपियोंने आपके नाम-कवचसे आपको सुरक्षित किया।

आनन्दवृन्दावन-चम्पूमें कहा गया है कि 'मैं दुधमुँहा शिशु हूँ। यदि दूध पीनेसे ही पूतना मर जाती है तो मेरा क्या दोष ?'

जब गोपियोंने लाकर शिशु कृष्णको माँकी गोदमें दिया तो उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ कि मेरा शिशु फिर लौट आया है। दूध पीने-पर कहीं जाकर उन्हें विश्वास हुआ।

श्रीहरि सूरि कहते हैं कि 'पूतनाके शरीरसे सुगन्ध निकलनेका भाव यह है कि पूतनाके शरीरमें पृथ्वीका जो अंश क्लेश पा रहा था उसने सुगन्धके रूपमें अपनी प्रसन्नता प्रकट की। जिसके वक्षः-स्थलपर विराजमान होकर स्वयं भगवान्‌ने दूध पिया उसके शरीरसे सुगन्धकी उत्पत्तिमें आश्चर्य क्या है ?'

अन्तमें श्रीहरि सूरि कहते हैं कि 'पूतना अनाचरण-प्रगल्भ थी', यह कोई भले ही कहे, मैं तो समझता हूँ कि वह पूत (पवित्र) नाना आचरणोंमें प्रगल्भ थी, इसके लिए उन्होंने एक ही वाक्यका प्रयोग किया है—'पूतनानाचरणप्रगल्भा'।

पूतना थी दुर्मतिकी सीमा और कृष्णने प्रकट की कृपाकी सीमा।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इस प्रसङ्गके अन्तिम अंशमें एक कैमुत्य-मण्डलीकी स्थापना की है। उनका कहना है कि 'जब मारनेकी नीयतसे आनेपर भी पूतनाको सद्गतिकी प्राप्ति हुई तब कोई

उदासीनता, श्रद्धा अथवा श्रद्धाभक्तिसे भगवान्‌के पास आये तब तो कहना ही क्या ?'

'भगवान्‌के किसी भी आविर्भावको कुछ अर्पित करे तो मुक्ति मिलती है, फिर परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णको अर्पित करे तो कहना ही क्या ?'

'यदि विषस्तन अर्पण करे तब भी कल्याणभागी हो जाय, फिर निर्विष वस्तु अथवा प्रिय, प्रियतर और प्रियतम वस्तु अर्पण करे तब तो कहना ही क्या ?'

'जब पूतना नामक प्रसिद्ध राक्षसीको भी मातृगति—सद्‌गति प्राप्त हुई तब मानुषी भक्त, अनुरक्त, और वात्सल्य भाववती गाँवकी गोपियोंको मातृगति प्राप्त होगी; इसमें कहना ही क्या ?'

इन सब प्रसङ्गोंमें वात्सल्य स्नेहैकजीवना श्रीमती यशोदा माताका नाम नहीं लिया गया है। उनको वन्दनीयताके सिंहासनपर विराजमान करके केवल प्रणतिपात्री ही माना गया है; क्योंकि उनके लिए सद्‌गति प्राप्त करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। उनके नाम-स्मरण एवं ध्यानसे भी दूसरोंको सद्‌गति प्राप्त होती है।

कहना न होगा कि इस प्रसङ्गमें वात्सल्य स्नेह-स्वरूप श्रीयशोदा माताकी निरतिशय महिमा प्रकट की गयी है। देखनेमें यह श्रीकृष्णकी महिमा है : परन्तु इसमें यशोदा-माहात्म्यकी अन्तर्धारा है।



भक्तिरसकी पाँच धाराएं

भक्ति साधारणतः दो प्रकार की मानी गयी है—एक साधन-भक्ति और दूसरी साध्य-भक्ति। पहलीका स्वरूप है भगवान्के भजनकी साधना, अर्थात् भजन होने लगे—इसके लिए प्रयत्न। दूसरीका स्वरूप है, भगवान्का साक्षात् भजन, सेवन, उनकी सन्निधि और उनसे एकत्व। पहलीको वैधी भक्ति कहते हैं और दूसरीको रागानुगा, प्रेमलक्षणा, अथवा पराभक्ति। भगवान् स्वयं रसस्वरूप हैं; इसलिए जब जीवका, अथवा जीवकी वृत्तियोंका भगवान्से संयोग होता है, तब एक अनिर्वचनीय रसकी अनुभूति होती है। यदि दूसरी शैलीसे कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि जब चित्त द्रवित होकर भगवदाकार हो जाता है, तब वास्तविक रसकी निष्पत्ति होती है। चित्त तो विषयोंके लिए भी द्रवित होता है और उसके साथ तदाकार भी हो जाता है। परन्तु इस तदाकारतामें स्थायित्व नहीं होता। क्योंकि वे विषय ही अस्थायी हैं, जिनके आकारमें चित्त परिणत हुआ है। इसलिए चित्त वहाँ अभावका अनुभव करके फिर

दूसरे विषयके लिए द्रवित होता है और फिर तीसरेके लिए। इसीका नाम संसार-चक्र है, जिसकी गति-परम्परा तबतक शान्त नहीं हो सकती जब तक चित्तको इनसे सर्वथा मुक्त न कर दिया जाय। परन्तु जब एक बार चित्त भगवदाकार हो जाता है, तब वहाँ किसी प्रकारके अभावका अनुभव न करनेके कारण पुनः किसी दूसरे आकारमें परिणत होनेकी आवश्यकता नहीं होती। चित्त सर्वदाके लिए उसी रसमें डूब जाता है, उसी रससे एक हो जाता है। इस रसकी उपलब्धिके लिए प्रयत्न साधन-भक्ति है और इस रसकी अनुभूति साध्य-भक्ति है।

वैसे तो भगवान्‌के साथ जिस सम्बन्धको लेकर चित्त द्रवित हो जाय—गङ्गाकी धारा जिस प्रकार अखण्ड रूपसे समुद्रमें गिरती रहती है, वैसे ही जब चित्त एकमात्र भगवान्‌की ओर ही प्रवाहित होने लगे, तब कोई भी भाव, कोई भी सम्बन्ध रस ही है; क्योंकि चित्तकी द्रवावस्था ही रस है। यदि वह संसारके लिए है तो विषयकी क्षणिकताके कारण 'रसाभास' है और यदि भगवान्‌के लिए है तो उनकी रसरूपताके कारण वह वास्तविक 'रस' है। इसीको रसिक भक्तोंके सम्प्रदायमें भक्ति-रस कहा गया है। इस भक्तिरसके पाँच प्रकार अथवा पाँच अवान्तर भेद स्वीकार किये गये हैं। वे एक दृष्टिसे तो सब-के-सब परिपूर्ण ही हैं, परन्तु दूसरी दृष्टिसे एककी गाढ़ अवस्था दूसरेके रूपमें परिणत हो जाती है। शान्तका दास्यके रूपमें, दास्यका सख्यके रूपमें, सख्यका वात्सल्यके रूपमें, वात्सल्यका माधुर्य-रसके रूपमें परिणाम होता है। इस मतमें मधुर रस ही रसका चरम उत्कर्ष है। कोई-कोई सहृदय पुरुष शान्तमें सबका परिणाम मानते हैं और कोई-कोई दास्य-रसमें। ऐसे भी आचार्य हैं जो इनको भाव, आसक्ति अथवा स्थायी रति मानते हैं और इनके

भक्तिरसकी पाँच धाराएं

भक्ति साधारणतः दो प्रकार की मानी गयी है—एक साधन-भक्ति और दूसरी साध्य-भक्ति। पहलीका स्वरूप है भगवान्के भजनकी साधना, अर्थात् भजन होने लगे—इसके लिए प्रयत्न। दूसरीका स्वरूप है, भगवान्का साक्षात् भजन, सेवन, उनकी सन्निधि और उनसे एकत्व। पहलीको वैधी भक्ति कहते हैं और दूसरीको रागानुगा, प्रेमलक्षणा, अथवा पराभक्ति। भगवान् स्वयं रसस्वरूप हैं; इसलिए जब जीवका, अथवा जीवकी वृत्तियोंका भगवान्से संयोग होता है, तब एक अनिर्वचनीय रसकी अनुभूति होती है। यदि दूसरी शैलीसे कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि जब चित्त द्रवित होकर भगवदाकार हो जाता है, तब वास्तविक रसकी निष्पत्ति होती है। चित्त तो विषयोंके लिए भी द्रवित होता है और उसके साथ तदाकार भी हो जाता है। परन्तु इस तदाकारतामें स्थायित्व नहीं होता। क्योंकि वे विषय ही अस्थायी हैं, जिनके आकारमें चित्त परिणत हुआ है। इसलिए चित्त वहाँ अभावका अनुभव करके फिर

दूसरे विषयके लिए द्रवित होता है और फिर तीसरेके लिए। इसीका नाम संसार-चक्र है, जिसकी गति-परम्परा तबतक शान्त नहीं हो सकती जब तक चित्तको इनसे सर्वथा मुक्त न कर दिया जाय। परन्तु जब एक बार चित्त भगवदाकार हो जाता है, तब वहाँ किसी प्रकारके अभावका अनुभव न करनेके कारण पुनः किसी दूसरे आकारमें परिणत होनेकी आवश्यकता नहीं होती। चित्त सर्वदाके लिए उसी रसमें डूब जाता है, उसी रससे एक हो जाता है। इस रसकी उपलब्धिके लिए प्रयत्न साधन-भक्ति है और इस रसकी अनुभूति साध्य-भक्ति है।

वैसे तो भगवान्‌के साथ जिस सम्बन्धको लेकर चित्त द्रवित हो जाय—गङ्गाकी धारा जिस प्रकार अखण्ड रूपसे समुद्रमें गिरती रहती है, वैसे ही जब चित्त एकमात्र भगवान्‌की ओर ही प्रवाहित होने लगे, तब कोई भी भाव, कोई भी सम्बन्ध रस ही है; क्योंकि चित्तकी द्रवावस्था ही रस है। यदि वह संसारके लिए है तो विषयकी क्षणिकताके कारण 'रसाभास' है और यदि भगवान्‌के लिए है तो उनकी रसरूपताके कारण वह वास्तविक 'रस' है। इसीको रसिक भक्तोंके सम्प्रदायमें भक्ति-रस कहा गया है। इस भक्तिरसके पाँच प्रकार अथवा पाँच अवान्तर भेद स्वीकार किये गये हैं। वे एक दृष्टिसे तो सब-के-सब परिपूर्ण ही हैं, परन्तु दूसरी दृष्टिसे एककी गाढ़ अवस्था दूसरेके रूपमें परिणत हो जाती है। शान्तका दास्यके रूपमें, दास्यका सख्यके रूपमें, सख्यका वात्सल्यके रूपमें, वात्सल्यका माधुर्य-रसके रूपमें परिणाम होता है। इस मतमें मधुर रस ही रसका चरम उत्कर्ष है। कोई-कोई सहृदय पुरुष शान्तमें सबका परिणाम मानते हैं और कोई-कोई दास्य-रसमें। ऐसे भी आचार्य हैं जो इनको भाव, आसक्ति अथवा स्थायी रति मानते हैं और इनके

द्वारा एक महान् भक्ति-रसकी परिपुष्टि मानते हैं। दृष्टिभेदसे ये सभी मत सत्य हैं। सच्ची बात तो यह है कि जिस भावका भगवान्के साथ सम्बन्ध है उसका स्वरूप चाहे जो भी हो, वह पूर्ण रस है। यहाँ इन पांचोंका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

शान्त-रस

जैसा कि रसोंके प्रसङ्गमें वर्णन आता है, रसकी अनुभूतिकी एक प्रक्रिया है। आलम्बन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव, सञ्चारी एवं व्यभिचारी भावोंके द्वारा व्यक्त होनेवाला स्थायिभाव ही रस होता है। जिसको शान्त-रस कहा जाता है, उसके अनुभवकी भी यही प्रणाली है। इसका स्थायिभाव शान्त-रति है। इस भावमें भगवान्के संयोग-सुखका आस्वादन होता है। यद्यपि परमात्माके निर्गुण स्वरूपमें स्थिति भी शान्त-रसका ही एक स्वरूप मानी जाती है, तथापि यहाँ भक्तिका प्रसङ्ग होनेके कारण सगुण भगवान्की अनुभूतिको ही शान्त-रसके रूपमें समझना चाहिए। निर्गुण स्थितिमें किसी प्रकारका आस्वादन न होनेके कारण और सगुण-भक्तिके आस्वादनात्मक होनेके कारण दोनोंकी विलक्षणता स्पष्ट है। इस शान्त भक्ति-रसके आलम्बन सगुण परमात्मा हैं। उनका स्वरूप ही—वह चाहे निराकार हो या साकार, चतुर्भुज हो या द्विभुज—इस रसका आलम्बन-विभाव है। इसमें दास्य आदि भावोंके समान लीलाकी विशेषता नहीं है। भगवान्का स्वरूप सच्चिदानन्द-घन है, वे सर्वदा अपने आपमें ही स्थित रहते हैं। वे समस्त शक्तियोंके एकमात्र केन्द्र हैं, सब पवित्रताओंके एकमात्र उद्गम हैं, जगत्की निखिल वस्तुओंके एकमात्र नियामक हैं। वे सबके कर्त्ता, भर्त्ता, संहर्त्ता हैं। सबके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हैं। ये व्यापक प्रभु ही चाहे साकाररूपमें अथवा निराकाररूपमें, अपने

इष्टदेवरूपसे हृदयमें स्फुरित हुआ करते हैं। निखिल जीव और जगद्रूपी तरङ्गोंके समुद्र ये भगवान् जिस जीवके भावनेत्रोंके सामने प्रकट हो जाते हैं, उसका मन सांसारिक विषयोंकी तो बात ही क्या, मोक्षसुखका भी परित्याग करके इनके चरणोंमें आ समाता है।

शान्तरसके उपासक प्रायः दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे आत्माराम पुरुष जो भगवान् या उनके प्रिय भक्तोंकी करुणादृष्टिसे भगवान्की ओर आकर्षित हुए हैं। दूसरे वे साधक जिनका ऐसा विश्वास है कि भगवान्की भक्तिसे ही परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। आत्माराम भक्तोंमें सनक-सनन्दनादिका नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है। ये पाँच वर्षकी अवस्थाके गौर वर्ण नग्न और प्रायः साथ ही रहनेवाले चारों अत्यन्त तेजस्वी हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन है कि जब ये वैकुण्ठधाममें गये तो भगवान्के चरणकमलोंकी सुगन्धसे इनका वह चित्त जो अक्षरब्रह्ममें स्थित था, खिच गया। इनका चित्त द्रवित हो गया और शरीरमें सात्त्विक भावके चिह्न प्रकट हो गये। श्रीरूपगोस्वामीने इनके भावोंका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है—

समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां
गते किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावत् सुखम्।
न यावदियमद्भुता नवतमालनीलद्युते-
र्मुकुन्द सुखचिद्घना तव बभूव साक्षात्कृतिः॥

'हे प्रभो! तुम्हारे निर्गुण और इन्द्रियोंके अगोचर स्वरूपमें तभी तक अनिर्वचनीय सुखका अनुभव होता था, जबतक तुम्हारी इस अद्भुत मूर्त्तिका जो नवीन तमालके समान नीलकान्तिवाली है,

सच्चिदानन्दमय साक्षात्कार नहीं हुआ था।' तात्पर्य यह कि भगवान्‌की आनन्दघन रूपराशिपर मुग्ध होकर ये आत्मसुखका परित्याग करके भगवान्‌की रूपमाधुरीका पान कर रहे हैं। इसी प्रकार परम तत्त्वज्ञानी राजा जनक भगवान् रामके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उसीमें रम जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चन्द चकोरा॥

जिन साधकोंका यह निश्चय है कि भगवान्‌की भक्तिसे ही मुक्ति मिलती है, जो विरक्त होकर प्राणपणसे साधनामें संलग्न हैं, जिनकी मुमुक्षा अभी शान्त नहीं हुई है, वे शान्त-रसके तपस्वी उपासक हैं। आत्माराम भक्तोंकी कृपा और प्रेरणासे ही इनके हृदयमें शान्तरसका अनुभव हुआ करता है। एक साधक कितनी सुन्दर अभिलाषा करता है—

कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसति-
वंसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं
चिदानन्दं ज्योतिः क्षणमिव विनेष्यामि रजनीः॥

'पर्वतकी कन्दरामें, अथवा विशाल वृक्षकी छायामें निवास करता हुआ मैं केवल कौपीन पहने हुए, फलमूलका भोजन करते हुए और हृदयमें बार-बार चिदानन्दमय श्यामज्योति भगवान्

श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए अपने जीवनकी बहुत-सी रात्रियोंको एक क्षणके समान कब व्यतीत कर दूँगा ? मेरे जीवनमें ऐसा शुभ अवसर कब आवेगा ?' ऐसे जीवनकी अभिलाषा ही इस प्रकारके जीवनकी जननी है, जिसमें शान्त-रसकी भक्ति पूर्ण होती है।

शान्तरसके उद्दीपन विभाव जिनसे शान्तरसकी पुष्टि होती है, दो प्रकारके होते हैं—एक तो असाधारण और दूसरे साधारण। असाधारण विभाव निम्नलिखित हैं—

१. उपनिषद्, दर्शन और पुराणोंका तथा उन ग्रन्थोंका श्रवण, कीर्तन, मनन, स्वाध्याय जिनमें भगवान्के तत्त्व, स्वरूप, गुण, रहस्य और महिमाका वर्णन है।

२. उस पवित्र एकान्त स्थानका सेवन जिसमें चित्त एकाग्र होता है।

३. शुद्ध सत्त्वमय चित्तमें निरन्तर भगवान्की स्फूर्ति।

४. भगवान्, जीव और जगत्के स्वरूपोंका पृथक्-पृथक् विवेचन और उनके सम्बन्धोंका निर्णय।

५. भगवान्में ज्ञान-शक्तिकी प्रधानताका अङ्गीकार और अपने जीवनकी प्रगति भी ज्ञानानुसारिणी।

६. सम्पूर्ण विश्वको भगवान्का व्यक्त रूप समझना और व्यवहारमें उसके दर्शनकी चेष्टा करना।

७. ज्ञानप्रधान भक्तोंका सत्सङ्ग करना और अपने ही समान रुचि रखनेवाले साधकोंके साथ भगवान् और उनकी भक्तिके सम्बन्ध-में चर्चा करना।

इनके अतिरिक्त साधारण उद्दीपन भी बहुत-से होते हैं। यथा—

१. भगवान्‌की पूजाके पुष्प, तुलसी, नैवेद्य आदि प्राप्त करके मुग्ध होना।

२. भगवान्‌की पूजाके शङ्ख, घण्टा, आरती, स्तुति आदिके पाठकी ध्वनि सुनना।

३. पवित्र पर्वत, सुन्दर जङ्गल, सिद्ध क्षेत्र और गङ्गा आदि नदियोंका सेवन।

४. संसारके भोगोंकी क्षणभङ्गुरताका विचार।

५. संसारकी समस्त वस्तुएँ, अपना जीवन भी—मृत्यु-ग्रस्त हैं यह विचार इत्यादि।

हृदयमें शान्तरसका उन्मेष होनेपर बहुत प्रकारके साधारण और असाधारण चिह्न उदय हो जाते हैं, उनको अनुभाव कहते हैं। यथा—

१. आँखोंका बन्द रहना, नासाग्रपर, भ्रूमध्यपर, अथवा निरालम्ब ही स्थिर रहना।

२. व्यवहारका विशेष ध्यान नहीं रहना।

३. चलते समय बहुत इधर-उधर नहीं देखना, सामने चार हाथ तक देखना।

४. स्थिर, धीर, गम्भीर भावसे बैठे रहना, ज्ञानमुद्राका अवलम्बन।

५. भगवान्‌के प्रति द्वेषभाव रखनेवालेसे भी द्वेष न करना तथा प्रेमभाव रखनेवालेसे भी अत्यन्त प्रेम न करना।

६. सिद्ध-अवस्था अथवा जीवन्मुक्तिके प्रति आदर भाव।

७. किसीकी अपेक्षा नहीं रखना, किसीसे ममता नहीं करना और कभी अहङ्कारका भाव नहीं आना।

८. संसार और व्यवहारके सम्बन्धमें स्फुरणाका न होना और बहुत कम वार्तालाप करना। इत्यादि

इनके अतिरिक्त साधारण अनुभाव भी प्रकट होते हैं। यथा—

१. बार-बार भगवान्‌को नमस्कार करते रहना।

२. सत्सङ्गियोंको भगवद्भक्तिका उपदेश करना।

३. भक्तोंके साथ भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना आदि करना।

४. भावोदय होनेपर जमुहाई आना, शरीर तोड़ना आदि।

शान्तरसके उदय होनेपर सात्त्विक भावोंका भी प्रकाश होता है। परन्तु इस रसके उपासक प्रायः शरीरसे ऊपर उठे रहते हैं और बड़ी सावधानीके साथ शरीर भावसे अपनी रक्षा करते हैं। इसलिए इनके हृदयमें तो समस्त सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं। परन्तु शरीरमें रोमाञ्च, स्वेद, कम्प आदि कुछ थोड़े-से ही प्रकट होते हैं। प्रलय, उन्माद और मृत्यु आदि सात्त्विक भाव प्रायः इनके शरीरमें नहीं देखे जाते। संसारके प्रति निर्वेद (वैराग्य), विपत्ति आनेपर धैर्य, भगवद्भक्तके मिलनसे हर्ष, विस्मरणसे विषाद और भी बहुत-से सञ्चारी भाव शान्तरसके पोषक हैं। शान्तरसका स्थायिभाव शान्तरति है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। यह दो प्रकारकी होती है—एक समा और दूसरी सान्द्रा। जब मन वृत्तिशून्य होकर

ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है, असम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है, तब कहीं यदि उस समाधिमें भगवान् प्रकट हो जायँ और उनको देखकर योगीका चित्त प्रेममुग्ध हो जाय; तो इसको शान्तरसकी समरति कहेंगे। समस्त अज्ञानके ध्वंस हो जानेपर निर्विकल्प समाधिमें जो एकरस निर्विशेष अनन्तके रूपमें अनुभव होता है, वही तो उस अनन्त आनन्दको भी अनन्तगुना बनाकर नन्दनन्दन श्याम-सुन्दरके रूपमें प्रकट हुआ है। इस प्रकारकी अनुभूति सान्द्र शान्त-रतिके नामसे प्रसिद्ध है। भगवान्के साक्षात्कारके लिए उत्सुकता और साक्षात्कार दोनों स्थितियाँ इस रसके अन्तर्गत हैं।

शान्तरस साहित्यिकोंके मतमें भी सर्ववादिसम्मत रस है। नाटयशास्त्रके आचार्योंने शान्तको इसलिए रस नहीं माना है कि शान्तरति निर्विकार है। रंगमञ्चपर किसी भावभंगीके द्वारा उसका प्रदर्शन सम्भव नहीं है। परन्तु काव्य एवं भक्ति-साहित्यमें इसका साक्षात्कार होनेके कारण इसकी रसता निर्विवाद सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें शमकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'मुझमें परिनिष्ठित बुद्धिका नाम शम है।' यदि शान्तिको रतिके रूपमें स्वीकार नहीं किया जाय, तो इस निष्ठाकी उपपत्ति कैसे हो सकती है? श्रीविष्णु-धर्मोत्तरपुराणमें शान्तरसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

> नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः।
> समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥

'जिसमें न सुख है और न तो दुःख, न द्वेष और न तो मात्सर्य, जो समस्त प्राणियोंमें सम भाव है, वही शान्तरसके नामसे प्रसिद्ध

है।' इस शान्तरसमें और सम्पूर्ण रसोंका अन्तर्भाव हो सकता है। वीर, करुण, श्रृंगार आदि रस परिणत होते हुए, जब अहंकारसे नितान्त रहित हो जाते हैं, तो शान्तरसमें उनका पर्यवसान हो जाता है। इस रसका स्थायिभाव शान्तरति है, इसमें पूर्वाचार्योंका मतभेद है। किसी-किसीके मतमें शान्तरसका स्थायिभाव धृति है। व्यवहारमें चाहे जैसी भी घटना घट जाय, किन्तु धृति अवि-चलित रहे, यही शान्तरसका पूर्वरूप स्थायिभाव है। कोई-कोई कहते हैं—शान्तरसका स्थायिभाव निर्वेद है। निर्वेद दो प्रकारका होता है। एक तो अभीष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे और अनिष्ट वस्तुके संयोगसे होता है। यह स्थायिभाव नहीं हो सकता, यह व्यभिचारी भाव है। परन्तु तत्त्वज्ञानके उदयसे जो जागतिक विषयोंके प्रति सहज निर्वेद है, वह शान्तरसका स्थायिभाव हो सकता है। शान्तरसका स्थायिभाव चाहे शान्तरति हो, धृति हो अथवा निर्वेद हो इनमें-से किसीके द्वारा साधकके चित्तमें शान्तरसका उद्रेक होना चाहिए। शान्तरसका उन्मेष होनेपर भगवत्तत्त्वका अनुभव होने लगता है और इससे बढ़कर जीवके लिए सौभाग्यकी और कौन-सी बात हो सकती है? जहाँ तक शान्तरसकी गति और स्थिति है, वहाँ तक पहुँचने पर ही जाना जा सकता है कि इसके बाद भी कोई स्थिति है या नहीं। इसलिए सम्पूर्ण शक्तिसे इस शान्तरसका ही अनुभव करना चाहिए।

दास्यरस

दास्यरसका स्थायिभाव प्रीति है। यही जब आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, सात्त्विक भाव आदिसे सुपुष्ट और व्यक्त होता है, तब दास्य-रसके नामसे कहा जाता है। कुछ लोग इसको प्रीतिभक्तिरस कहते हैं। कई आचार्योंने इसे शान्तरसके अन्तर्गत ही माना है। परन्तु

उसकी अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता अवश्य है। शान्तरसमें स्वरूप-चिन्तनकी प्रधानता है, दास्यरसमें ऐश्वर्यचिन्तनकी। दास्यरसके दो भेद माने गये हैं—एक तो सम्भ्रमजनित दास्य और दूसरा गौरव-जनित दास्य। सम्भ्रमजनित दास्य वह है, जिसमें साधक भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्य, प्रभाव, महत्त्व, शक्ति, प्रतिष्ठा, गुणोंका आधिक्य और चरित्रकी अलौकिकता आदि देखकर, जानकर अपने सेव्यके रूपमें प्रभुका वरण कर लेता है और उनकी सेवाके रसमें ही अपने-को डुबा देता है। गौरव-प्रीतिरस वह है जिसमें भगवान्‌के साथ कोई गौरवका सम्बन्ध रहता है। जैसे भगवान्‌के पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब आदि गुरुबुद्धिसे भगवान्‌की सेवा किया करते थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि दास्यरसके आलम्बन भगवान् सगुण ही होते हैं। यद्यपि निराकार भगवान्‌के आज्ञापालनके रूपमें वेदोक्त सदाचारका अनुष्ठान और विश्व-सेवाकार्यके द्वारा भी दास्यरसका अनुभव किया जा सकता है। इस व्यक्त जगत्‌को भगवान्‌का रूप समझकर इसकी सेवा करना भी दास्यरसके अन्तर्गत हो सकता है, तथापि रसिक भक्तोंने सगुण साकार अनन्त ऐश्वर्योंके निधि द्विभुज, चतुर्भुज आदि आकार विशिष्ट भगवद्विग्रहको ही आलम्बन स्वीकार किया है।

भगवान्‌का ऐश्वर्य अनन्त है। उनके एक-एक रोमकूपमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका निवास-स्थान है। इतने ऐश्वर्यवान् होनेपर भी वे करुणाके तो समुद्र ही हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य है। समस्त सिद्धियाँ उनकी सेवामें तत्पर रहती हैं। संसारमें जितने भी देवी-देवता हैं, उन्हींके अंशविशेष हैं और जितने भी अवतार होते हैं, उनके वे ही बीजस्वरूप हैं। उनकी सर्वज्ञता, क्षमाशीलता, शरणागत-वत्सलता और अनुकूलता, सत्यता, सर्वप्राणिहितैषिता आदि सद्‌गुण आत्माराम पुरुषोंके चित्तको भी अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

उनके प्रतापसे ही संसारकी गति नियमित है, उनकी धारणाशक्तिसे ही धर्म सुरक्षित है। वे सब शास्त्रोंकी मर्यादाके स्थापक और पालक हैं। बड़े उदार हैं, महान् तेजस्वी हैं। एक बार भूलसे भी उनका कोई स्मरण करके भूल जाय, तब भी वे कभी नहीं भूलते। वे कृतज्ञताकी मूर्ति हैं, सबके अकारण हितू हैं। जो प्रेम करे उसीके वशमें हो जाते हैं। इस प्रकारके परम उदार, परम ऐश्वर्यशाली भगवान् ही दास्य-रसके आलम्बन हैं।

भगवान्के दास उनके आश्रित होते हैं। भगवान् पर उनका अखण्ड विश्वास होता है, वे सर्वात्मना भगवान्की आज्ञाका पालन करते और भगवान्के अप्रतिहत ऐश्वर्यके ज्ञानसे उनका अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सम्पूर्ण जीवन भगवान्के चरणोंमें समर्पित एवं नमित रहता है। इनके चार प्रकार होते हैं—अधिकृत, आश्रित, पार्षद और अनुगामी। अधिकृत भक्तोंकी श्रेणीमें शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य आदि देवतागण हैं। ये भगवान्की किस प्रकारकी सेवा करते हैं? इसका एक उदाहरण देखिये—

का पर्येत्यम्बिकेयं हरिमवकलयन् कम्पते कः शिवोऽसौ
तं कः स्तौत्येष धाता प्रणमति विलुठन् कः क्षितौ वासवोऽयम्।
कः स्तब्धो हस्यतेऽद्धा दनुजभिदनुजैः पूर्वजोऽयं ममेत्थं
कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं जालरन्ध्राद् व्यतानीत्॥

'कोठेपर खिड़कीके पास खड़ी होकर जाम्बवतीके पूछनेपर कालिन्दी देवताओंका परिचय करा रही हैं—यह प्रदक्षिणा कौन कर रही हैं? यह अम्बिका देवी हैं। भगवान्का दर्शन करके यह काँप कौन रहे हैं? ये शिव हैं। ये स्तुति कौन कर रहे हैं? ये ब्रह्मा हैं। ये

जमीनमें लोटकर नमस्कार कौन कर रहे हैं ? ये इन्द्र हैं। ये स्तब्ध कौन खड़े हैं, देवता लोग जिनकी हँसी उड़ा रहे हैं ? ये मेरे बड़े भाई यमराज हैं।' इससे स्पष्ट होता है कि सभी देवता द्वारकामें आ-आकर भगवान्का दास्य करते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है, व्रज और वैकुण्ठकी ऐसी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं। देवताओंके सहज वर्णनमें भी यह बात आती है कि वे सदा-सर्वदा भगवान्की दास्य-भक्तिमें ही तन्मय रहते हैं।

आश्रित भक्तोंकी तीन श्रेणियाँ हैं—शरणागत, ज्ञानी और सेवा-निष्ठ। जरासन्धके द्वारा कैद किये हुए राजा लोग, भगवान्का अनुग्रह पात्र होनेपर कालियनाग—ये सब शरणागत श्रेणीके आश्रित हैं। जिन्होंने मुमुक्षा और जिज्ञासाका भी परित्याग कर दिया है और मोक्ष एवं ज्ञानका परित्याग करके भगवान्का ही आश्रयण किया है, वे ज्ञानी आश्रित हैं। इस श्रेणीमें शौनक आदि ऋषिगण आते हैं। इस श्रेणीके एक भक्त कहते हैं—

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा॥

'जो ध्यानातीत किसी एक परम तत्त्वको जानते हैं, उनके हृदयमें वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा रहे, हमारे तो जो स्वभाव-सुन्दर परम मधुर हैं जिनके मुख-कमलपर मन्द-मन्द मुस्कान है, वर्षा-कालीन मेघके समान जिनकी कान्ति है, जो पीताम्बरधारी एवं कमलनयन हैं, वे श्रीकृष्ण ही आत्मा हैं।' वे ही प्राणप्रिय हैं,

वे ही सेव्य हैं। हमें और किसी दूसरे आत्मासे और कोई काम नहीं।

जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌के भजनमें ही आसक्त हैं, वे सेवानिष्ठ आश्रितोंकी श्रेणीमें हैं। इसमें चन्द्रध्वज, हर्यश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव आदिका नाम लिया जा सकता है। इस श्रेणीके भक्तका हृद्‌गत भाव इस प्रकार होता है—हे प्रभो! जो सर्वदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे तुम्हारे गुणोंका श्रवण करनेके लिए उस सभामें सम्मिलित होने लगते हैं, जिसमें तुम्हारे गुणोंका गायन होता है। जो एकान्त जङ्गलमें रहकर घोर तपस्यामें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे तुम्हारे उदार चरित्र सुननेके लिए प्रेमी भक्तोंके सामने भिक्षुकके रूपमें उपस्थित होते हैं। इसलिए मैं न तो स्वरूप-स्थिति चाहता हूँ और न तो निर्विकल्प समाधि। मैं तुम्हारी सेवामें रहूँ, तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँ, तुम्हारी सन्निधिमें रहकर निरन्तर तुम्हारी प्रसन्नता अनुभव किया करूँ—यही मेरे जीवनकी एकमात्र अभिलाषा है।

भगवान्‌की नित्य लीलामें और समय-समयपर प्रकट होनेवाली लीलामें भी उनके नित्य पार्षद रहते हैं। वैकुण्ठमें विष्वक्सेन आदि, द्वारकाकी लीलामें उद्धव, दारुक आदि और हस्तिनापुरकी लीलामें भीष्म, विदुर आदि भगवान्‌के पार्षद श्रेणीके भक्त हैं। यद्यपि ये विभिन्न कार्योंमें नियुक्त रहते हैं, कोई मन्त्रीका काम करता है तो कोई सारथी का, तथापि ये अवसर पानेपर भगवान्‌की शरीरतः सेवा करते हैं और उससे अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। अनुगामी भक्त भगवान्‌की सेवामें सर्वदा संलग्न रहते हैं। भगवान्‌के चरणोंमें इनकी दृढ़ आसक्ति होती है। द्वारकामें सुचन्द्र, मण्डल आदि अनुग भक्त

छत्र-चमर आदि धारण करते हैं और व्रजमें रक्तक, पत्रक आदि दासगण भगवान्‌के वस्त्र आदिके परिष्कार आदिकी सेवा करते हैं। जैसे द्वारकाके भक्तोंमें उद्धव श्रेष्ठ हैं, वैसे ही व्रजके भक्तोंमें रक्तक श्रेष्ठ हैं। इनके तीन भेद होते हैं यथा—धूर्य, धीर और वीर। धूर्य वे हैं जो महल और दरबार दोनोंमें एक-सी सेवा करते हैं। धीर श्रेणीके सेवक भगवान्‌के प्रेयसी-वर्गका आश्रय लेकर विशेष सेवा न करनेपर भी अपना मुख्य स्थान रखते हैं। वीर सेवक भगवान्‌के आश्रयसे निर्भीक रहता है और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। भगवान्‌के चरणोंमें इसका अतुलनीय प्रेम होता है। यह कभी-कभी अपनी प्रौढ़तावश कह बैठता है कि मुझे न बलरामसे काम है और न प्रद्युम्नसे कुछ लेना है। भगवान्‌की कृपासे मैं इस प्रकार बलवान् हो गया हूँ कि मैं सत्यभामाको भी कुछ नहीं गिनता। अब तक जितने प्रकारके दासोंकी गिनती की गयी है, वे सभी तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं—एक तो नित्यसिद्ध, दूसरे साधनासिद्ध और तीसरे जो अभी साधना कर रहे हैं। इन सभीके चित्तमें अनुदिन दास्य-रतिकी अभिवृद्धि हुआ करती है।

दास्यरसमें साधारण और असाधारण अनेकों प्रकारके उद्दीपन-विभाव होते हैं, यथा—

१. पद-पदपर भगवान्‌की कृपाका अनुभव।

२. उनके चरणोंकी धूलिकी प्राप्ति।

३. भगवान्‌के प्रसादका सेवन।

४. भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका सङ्ग।

५. भगवान्‌की वंशी, शृङ्ग आदिकी ध्वनिका श्रवण।

६. भगवान्‌की मन्द-मन्द मुस्कान और प्रेम-भरी चितवन।

७. भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महत्त्व आदिका श्रवण।

८. कमल, पदचिह्न, मेघ, अङ्गसौरभ आदि।

जिनके हृदयमें दास्यरसका उदय हो गया है, उनके जीवनमें बहुत-से अनुभाव प्रकट हो जाते हैं, यथा—

१ भगवान् जिस कर्ममें नियुक्त कर दें, उसीको सर्वश्रेष्ठ समझकर स्वीकार करना।

२. किसीके प्रति ईर्ष्याका लेश भी नहीं होना।

३. जो अपनेसे अधिक सेवा करता है, उससे प्रसन्नता और भगवद्भक्तोंसे मित्रता।

४. भगवान्‌की सेवामें ही रति, उसीमें प्रीति और उसीकी निष्ठा। दास्यके अवसरकी प्राप्तिसे और उनकी अप्राप्तिसे भी स्तम्भ आदि सात्त्विक भावोंका उद्रेक होता है। हर्ष, गर्व आदि भाव भी समय-समयपर स्फुरित हुआ करते हैं। भगवान्‌के ऐश्वर्य और सामर्थ्यके ज्ञानसे जो आदरपूर्वक सम्भ्रम होता है, उसके साथ मिलकर प्रीति ही सम्भ्रम प्रीतिका नाम धारण करती है। दास्यरसमें यही स्थायिभाव है। यह सम्भ्रम प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है। अकस्मात् भगवान्‌के मिलनेसे जो आदरभावपूर्वक ससम्भ्रम प्रेम है, वह सम्भ्रम प्रीति है। यही भाव जब इतना दृढ़ हो जाता है कि ह्रासकी आशङ्का नहीं रहती तब इसे ही प्रेम कहते हैं। इस अवस्थामें प्रेम इतना स्वाभाविक हो जाता है कि भगवान् चाहे सौख्यके महान् समुद्रमें

डाल दें, अथवा घोर दुःखमय नरकमें, कहीं भी चित्तमें विकार नहीं होता। भगवान्‌के चरणोंका पूरा विश्वास बना रहता है। यही प्रेम जब और घना होकर चित्तको अत्यन्त द्रवित कर देता है, तब इसका नाम स्नेह होता है। इसमें एक क्षणका वियोग भी सहन नहीं होता। यदि कहीं एक क्षणके लिए कृत्रिम वियोग हो जाय तो भी प्राणान्तकी नौबत आ जाती है। यही स्नेह जब इतना गाढ़ हो जाता है कि दुःख भी सुख मालूम होने लगता है, तब उसका नाम राग होता है। इस अवस्थामें अपने प्राणोंका नाश करके भी भगवान्‌की सेवा करनेका प्रयत्न होता है। इस अवस्थामें थोड़ा-बहुत सख्यका भी उदय हो जाता है। यदि भगवान् इस श्रेणीके किसी सेवकको कभी अपने हृदयसे लगा लेते हैं, तो वह लग तो लेता है, किन्तु उसके चित्तमें संकोच रहता है।

सेवककी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो भगवान्‌के साथ योगकी और दूसरी अयोगकी। भगवान्‌के साथ न रहकर सेवासे वंचित रहना, यह अयोग-अवस्था है। इसमें मन भगवान्‌में ही रहता है, प्रायः भगवान्‌के गुणोंका अनुसन्धान और उनके मिलनके उपायका चिन्तन हुआ करता है। इसके दो भेद हैं—उत्कण्ठा और वियोग। भगवान्‌के जब तक एक बार भी दर्शन नहीं हुए रहते, परन्तु उनके दर्शनकी बड़ी इच्छा रहती है, तब तककी अवस्थाका नाम उत्कण्ठा है। इस अवस्थामें कृष्णसार मृगका नाम सुनकर कृष्णकी स्मृति हो आती है। श्याम मेघको देखकर घनश्यामको पानेकी उत्कण्ठा तीव्र हो आती है। इस अवस्थामें विरहके सभी भावोंका उदय होता है। भगवान्‌के पानेकी उत्सुकता, अपनी दीनता, संसारसे निर्वेद, आशा-निराशा, जड़ता, उन्माद—सभी एक-एक करके आते रहते हैं। भगवान्‌के दर्शन बिना एक-एक क्षण

कल्पके समान मालूम होने लगता है। निरन्तर हृदयसे सच्ची प्रार्थनाकी धारा प्रवाहित होने लगती है। आगे चलकर तो ऐसी स्थिति हो जाती है कि व्यवहारका ध्यान नहीं रहता, आँखें निर्निमेष दर्शनकी प्रतीक्षा करने लगती हैं। भक्त प्रेमोन्मादमें मस्त होकर कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी निःसंकोच नाचने लगता है, कभी तन्मय होकर भगवान्‌की लीलाओंका ही अनुकरण करने लगता है, कभी मूर्च्छा हो जाती है तो कभी मृत्युकी-सी भी दशा हो जाती है। इसी अवस्थामें जाकर प्रेमपरवश भगवान्‌को दर्शन देनेके लिए बाध्य होना पड़ता है।

एक बार या अनेक बार भगवान्‌का दर्शन प्राप्त होनेके पश्चात् जो भगवान्‌का विरह होता है, उसको वियोग-अवस्था कहते हैं। भगवान्‌के मिलनका सुख ही ऐसा है कि जिसे एक क्षणके लिए भी प्राप्त हो जाता है, वह उसके विरहमें बड़ी कठिनाईसे जीवन धारण करता है। परन्तु संसारकी अपेक्षा उसकी यह कठिनाई भी परम रसमय है। भगवान्‌के विरहमें हृदयमें इतना ताप होता है कि सम्पूर्ण अग्नि और सूर्य भी वैसी जलन नहीं पैदा कर सकते। शरीर दुर्बल हो जाता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, नींद नहीं आती, उनके सिवा चित्त कहीं स्थिर नहीं होता, धैर्यका बाँध टूट जाता है, पीड़ासे शरीर जर्जर, शिथिल और अविचल हो जाता है, श्वासकी गति बढ़ जाती, मानसिक व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मृत्यु, पुनः जीवन और फिर वही अवस्थाएँ—उनकी ये ही अवस्थाएँ हुआ करती हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवत्प्रेमीके शरीरमें जो व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा आदि होते हैं, ये लौकिक नहीं, लोकोत्तर होते हैं। भगवान्‌के प्रेमराज्यमें मृत्युका तो प्रवेश ही नहीं है। वहाँ जो ये अवस्थाएँ आती हैं, सो सब संयोग-सुखकी अभिवृद्धिके लिए। इसलिए प्रेमीकी यह मृत्यु भी

जीवनसे बढ़कर है; क्योंकि रसस्वरूप भगवान्की सन्निधिमें यह पहुँचा देती है। यह वियोग संयोगका पोषक होनेके कारण रसस्वरूप है।

योग-अवस्थाके तीन भेद हैं—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। उत्कण्ठित अवस्थामें भगवान्की जो प्राप्ति होती है, उसको सिद्धि कहते हैं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें अक्रूरकी उत्कण्ठा और उनकी भगवत्प्राप्तिका वर्णन है, यह सिद्धि-अवस्था है। भगवान्का वियोग होनेके पश्चात् जो मिलन होता है उसको तुष्टि कहते हैं। ऐसा वर्णन आता है कि द्वारकाके द्वारपर दारुकने जब भगवान्को देखा तब उसको इतना आनन्द हुआ कि अञ्जलि बाँधकर भगवान्को प्रणाम भी नहीं कर सका। उसकी दशा चित्र-लिखित-सी हो गयी। इसीका नाम तुष्टि है। स्थिति-अवस्था उसे कहते हैं—जिसमें भगवान्से कभी वियोग नहीं होता। इस स्थिति-अवस्थामें भक्त प्रत्येक क्षण बड़ी सावधानीसे भगवान्की सेवामें ही व्यतीत करता है। भगवान्के दास्यरसके भक्तोंके लिए इससे बढ़कर वाञ्छनीय कोई अवस्था नहीं हो सकती। वे परमानन्दके महान् समुद्रमें स्थित रहकर भगवान्की अवसरोचित सेवा किया करते हैं। कहाँ बैठना, कहाँ खड़े रहना, कैसे बोलना, कैसी चेष्टा करना—सब उनके नियमित रहते हैं। सख्यमिश्रित दास्यमें कभी-कभी कुछ प्रगल्भता भी आ जाती है, परन्तु वह कभी-कभी ही होती है।

गौरवप्रीतिजनित दास्यमें पिता, बड़े भाई, गुरु आदिके रूपमें भगवान्की सेवा की जाती है। सर्वश्रेष्ठ कीर्तिमान्, परम ज्ञानसम्पन्न, परम शक्तिमान्, एक मात्र रक्षक, दुलार करनेवाले पिता आदिके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। उनके प्रेम या दुलारके पात्र सारण, गद, सुभद्र आदि छोटे भाई, प्रद्युम्न, साम्ब आदि पुत्र भी

आलम्बन हैं। ये भगवान्‌से नीचे आसनपर बैठकर उनसे उपदेश ग्रहण करते हैं। साथ भोजन करते हैं। भगवान् इनका सिर सूँघते हुए आलिङ्गन करते हैं। ये उनका स्नेह देख मुग्ध होते रहते हैं। सम्भ्रमजनित दास्यमें भगवान्‌के ऐश्वर्यका ज्ञान प्रधान रहता है। परन्तु भगवान्‌के प्यारे इन सम्बन्धियोंमें तो सम्बन्धकी ही स्फूर्ति प्रधान रहती है। व्रजमें किसी प्रकारके ऐश्वर्यकी धारणा न होनेपर ही व्रजराजकुमार होनेके कारण कुछ-कुछ ऐश्वर्यका लेश भी रहता ही है। भगवान्‌के वात्सल्यका स्मरण उनकी प्रसन्नतासूचक मुस्कान और प्रेम-भरी चितवनका स्मरण आदि इस रसके उद्दीपन हैं। भगवान्‌के सामने नीचे आसन पर बैठना, उनकी आज्ञाका पालन, उनके कार्य-भारका ग्रहण, उच्छृङ्खलताका त्याग—ये सब अनुभाव इस रसमें प्रकट होते हैं। सात्त्विक और सञ्चारीभाव भी यथावसर प्रकट हुआ करते हैं।

गौरवप्रीति क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण कर लेती है। इनका वर्णन सम्भ्रमप्रीतिमें जैसा हुआ है, वैसा ही समझना चाहिए। योग और अयोग अवस्थाओंके भेद-विभेद भी उतने ही और वैसे ही हैं। गौरवप्रीति और सम्भ्रमप्रीति दोनों ही दास्यरसके स्थायिभाव हैं। जिन्हें भगवान्‌की इस प्रेममयी, रस-मयी अवस्थाका अनुभव नहीं है, वे इसे रस नहीं मानते। परन्तु श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें इस अवस्थाकी रसमयताका सुन्दर वर्णन हुआ है। जीवके लिए इससे बढ़कर और कौन-सी सरस और आनन्द-मयी अवस्था होगी, जब वह अपने प्रियतम प्रभुकी सन्निधिमें रहकर उनके कृपा-प्रसादका अनुभव करता हुआ उन्हींकी सेवामें संलग्न रहे। 'भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः' कहकर भागवतकारने इसके परमानन्दस्वरूपकी ओर निर्देश किया है।

सख्य-रस

इस रसमें सख्यरति स्थायी होकर रसका रूप ग्रहण करती है। कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थाके श्रीकृष्ण एवं उनके सखा इसके आलम्बन हैं। व्रजमें मरकतमणिके समान श्यामसुन्दर शरीर, कुन्दके समान निर्मल हास्य, चमकता हुआ पीताम्बर, वनमाला, जादूभरी वंशी—ये सब-के-सब सख्यकी धारा प्रवाहित करते रहते हैं। द्वारकामें और हस्तिनापुरमें भी श्रीकृष्णके समवयस्क अर्जुन आदि सखा हैं और वे सख्य-रसके अनुसार श्रीकृष्णसे व्यवहार करते हैं। सखाके रूपमें श्रीकृष्ण अपने सब सखाओंसे बलवान् हैं, सबसे अधिक भाषाके ज्ञाता, वक्ता और विद्वान्, प्रतिभा, दक्षता, करुणा, वीरता, विदग्धता, बुद्धिमत्ता, क्षमा और प्रसन्नतामें अतुलनीय। सखा भी रूप, वेष, गुण आदिमें उनके समान ही होते हैं। दासोंके समान नियन्त्रणमें नहीं रहते। अपने सखा श्रीकृष्ण पर सम्पूर्ण रूपसे निर्भर रहते हैं। अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी, सुदामा—ये सब द्वारकाके सखा हैं। व्रजके सखा सर्वदा श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा किया करते हैं। उनके जीवन ही श्रीकृष्ण हैं। एक क्षण भी अपने सखा श्रीकृष्णका दर्शन न पाकर वे दीन हो जाते हैं। इनके प्रेम और सौभाग्यकी तुलनामें और किसीका भी नाम नहीं लिया जा सकता। बलराम, श्रीदामा, सुबल आदि यहाँके प्रसिद्ध सखा हैं। कितना प्रेम है इनका श्रीकृष्णके प्रति—यह वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्यमय रूपसे, अपने बायें हाथकी कानी अँगुलीपर गोवर्द्धन पर्वत उठाये हुए हैं। परन्तु ग्वालबालोंके लिए तो वे अपने सखा ही हैं, उन्हें उनके ऐश्वर्यका ध्यान कहाँ ? वे जाकर उनसे कहने लगे—

उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतो
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणौ गिरिम्।

आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किंवा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम् ॥

'सखे ! तुम नींद छोड़कर सात दिनसे खड़े हो, बड़े कष्टकी बात है। अब तुम बहुत थके-से जान पड़ते हो, अब परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं। श्रीदामाके हाथपर पर्वत रख दो अथवा हमारे हाथमें ही दे दो। तुम्हें इस प्रकार देखकर हमारे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। यदि ऐसा करनेकी इच्छा नहीं हो, तो थोड़ी देरके लिए उसे दाहिने हाथमें ले लो, हम तुम्हारे बाँये हाथका थोड़ा संवाहन तो कर लें। उसे हाथसे दबाकर उसकी पीड़ा तो कम कर दें।'

इनकी चार श्रेणियाँ होती हैं—सुहृद्, सखा, प्रियसखा और प्रियनर्मसखा। सुहृदोंकी अवस्था कुछ बड़ी होती है, उनमें वात्सल्य-मिश्रित सख्य रहता है। वे अपने सखा श्रीकृष्णकी रक्षा करनेके लिए सर्वदा तैयार रहते हैं। इस श्रेणीमें सुभद्र, मण्डलीभद्र आदि सखा हैं। ये भरसक श्रीकृष्णको अकेले नहीं छोड़ते। अपने बिना उनको अरक्षित समझते हैं। इनके चित्तमें अनिष्टकी आशङ्का बार-बार आया करती है और ये सर्वदा सजग रहते हैं। सखा-श्रेणीके ग्वाल-बाल अवस्थामें कुछ छोटे रहनेपर भी समान ही रहते हैं। इनमें दास्य-मिश्रित सख्य होता है। विषाद, ओजस्वी, देवप्रस्थ आदि इस श्रेणीमें हैं। ये वनमें, गोष्ठमें और जलमें सर्वदा श्रीकृष्णकी सेवामें संलग्न रहते हैं। खेलमें इनका सख्य प्रकाशमें आ जाता है। प्रिय सखाओंकी श्रेणीमें श्रीदामा, सुदामा आदि हैं। इनकी अवस्था श्रीकृष्णके समान है और इनमें केवल विशुद्ध सख्य है। ये श्रीकृष्णके साथ कुश्ती लड़ते, लाठी चलाते, तरह-तरहके खेल खेलते हैं। कोई श्रीकृष्णसे विनोद करता है, कोई पुलकित शरीरसे उनका आलिङ्गन करता

है। श्रीकृष्णका क्षणिक वियोग भी इनके लिए असह्य है। प्रियनर्म-सखाओंकी श्रेणी प्रिय-सखाओंकी अपेक्षा और भी अन्तरङ्ग है। ये अत्यन्त रहस्यमें भी सम्मिलित रहते हैं और गोपियोंके सन्देश-पत्र आदि श्रीकृष्णके पास ले आते हैं और उनके पास पहुँचाते भी हैं। इस श्रेणीमें सुबल, उज्ज्वल आदि हैं। ये चारों श्रेणियाँ व्रजके सखाओंमें ही होती हैं। इनमें-से कोई बड़े-बड़े विद्वान् भी हैं। कोई सरल हैं तो कोई चतुर, कोई चपल हैं तो कोई गम्भीर, कोई बहुत बोलनेवाले हैं तो कोई चुप रहनेवाले। इनकी सभी चेष्टाएँ श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिए होती हैं। प्रकृति भिन्न-भिन्न होनेपर भी ये बड़े ही मधुर हैं। इनकी पवित्र मित्रता और विचित्रता श्रीकृष्णको भी मोहित कर लेती है।

सख्य-रसके उद्दीपनोंमें बहुत-सी वस्तुएँ हैं यथा—

१. श्रीकृष्णकी कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थाएँ।

२. श्रीकृष्णकी मुनिजन-मनोमोहिनी लोकोत्तर सुन्दरता।

३. श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि, शृंगध्वनि आदि।

४. श्रीकृष्णकी विनोदप्रियता, मधुर भाषण।

५. श्रीकृष्णकी लीलाप्रियता, उछलना, कूदना, नाचना, गाना आदि।

६. श्रीकृष्णके प्रियजनोंके आनन्द और सौभाग्यका स्मरण।

७. श्रीकृष्णके द्वारा राजा, देवता, अवतार, हंस आदिका अनुकरण।

८. श्रीकृष्णका अपने सखाओंके साथ अत्यन्त प्रेम-पूर्ण और समान व्यवहार।

इन बातोंके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चिन्तनसे हृदयमें सख्य-रस प्रकट होता है। सख्य-रसके प्रकट होनेपर निम्नलिखित अनुभाव स्वयं ही स्फुरित होने लगते हैं—

१. श्रीकृष्णके साथ गेंद खेलना, कुश्ती लड़ना, एक-दूसरेपर सवारी गाँठना आदि।

२. आपसमें खेल-कूदकर श्रीकृष्ण जैसे प्रसन्न हों वैसी चेष्टा करना।

३. उनके साथ पलङ्गपर बैठना, झूलेपर झूलना, साथ सोना इत्यादि।

४. श्रीकृष्णके साथ सुन्दर-सुन्दर अद्भुत विनोद।

५. श्रीकृष्णके साथ जल-विहार।

६. श्रीकृष्णके साथ नाचना, गाना, बजाना।

७. उनके साथ गाय दुहना, चराना, कलेऊ करना, आँख-मिचौनी आदि खेलना, दूर हो जानेपर आपसमें होड़ लगाकर उन्हें छूना इत्यादि।

ये अनुभाव सख्य-रसका अनुभव करनेवालेके हृदय और परिपक्व होनेपर शरीरमें भी प्रकट हुआ करते हैं।

श्रीकृष्णके प्रेममें पगे रहना, उनकी कोई अद्भुत लीला देखकर स्तम्भित हो जाना, शरीर पसीज जाना, रोमाञ्चित हो जाना, काँपना, विवर्ण हो जाना आदि सात्त्विक भाव स्पष्टरूपसे प्रकाशित

हुआ करते हैं। आनन्दके आँसू, हर्षकी गाढ़ता आदि स्वाभाविक ही रहते हैं। सख्य-रतिसे ऐश्वर्यका भान नहीं रहता। इसमें अपने सखाके प्रेमपर पूरा विश्वास रहता है। सख्य-रसका यही स्थायिभाव है। यही परिपुष्ट होकर रसका रूप धारण करता है। यही सख्यरति क्रमशः विकसित होकर प्रणय, प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है। सख्य-रतिमें मिलनकी इच्छा प्रबल रहती है। प्रणयमें ऐश्वर्यका प्रकाश होनेपर भी सखापर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक ओर ब्रह्मा और शिव श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे हैं, तो दूसरी ओर एक सखा उनके बालोंपर पड़ी हुई धूल झाड़ रहा है। प्रेममें दुःख भी उसको बढ़ानेवाला ही होता है। स्नेहमें एक क्षणके लिए भी अपने सखाकी विस्मृति नहीं होती। हृदय सर्वदा स्नेहसे भरा रहता है। आँखोंमें आँसू और कण्ठ गद्गद, प्रियतमका गुणगान हुआ करता है। रागमें दुःखके निमित्त भी सुखके रूपमें अनुभव होते हैं। अश्वत्थामा श्रीकृष्णपर अत्यन्त तीखे बाण चलाता है, परन्तु अर्जुन उन्हें श्रीकृष्णको न लगने देकर अपने वक्षःस्थलपर ले लेते हैं। उन्हें मालूम होता है—मानो कोई पुष्पोंकी वर्षा कर रहा है। वे आनन्दमग्न हो रहे हैं।

दास्यरसकी भाँति ही सख्यरसमें भी अयोगके दोनों भेद होते हैं—जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, तबतक उत्कण्ठित-अवस्था और मिलनके पश्चात् जब विरह होता है, तब वियोग-अवस्था। श्रीकृष्णसे मिलन होनेसे पहले पाण्डवोंकी, विशेष करके अर्जुनकी उत्कण्ठित-अवस्था प्रसिद्ध है। मिलनके पश्चात्‌का वियोग भी पाण्डवोंके जीवनमें बहुत ही सुस्पष्ट रूपसे वर्णित हुआ है। भागवतके प्रथम स्कन्धमें अर्जुनने भगवान्‌का विछोह होनेपर जो विलाप किया है, बड़ा ही हृदय-द्रावक एवं मर्मस्पर्शी है। भगवान्‌के मथुरागमनके

पश्चात् व्रजके ग्वाल-बालोंको जो वियोग हुआ है, वह वाक्पथातीत है। उनके जीवनमें जितने भी दुःखके अवसर आये हैं—दावानलमें जलना, कालीदहका विषैला जल पीना और अघासुरके मुखमें जाना आदि, सबसे बड़ा दुःख श्रीकृष्णके विरहका ही हुआ है। उनके अन्तस्थलमें विरहकी ज्वाला इस प्रकार प्रज्वलित होती रहती है कि भाण्डीर-वटकी शीतल छाया, यमुनाकी बरफके समान ठण्डी धारा भी उसे शान्त न करके और भी धधका देती है। शरीर दुर्बल हो जाते हैं, आँखोंमें आँसू भरे रहनेके कारण नींद नहीं आती, उनका चित्त आलम्बनशून्य होकर धैर्यहीन, विचारशून्य एवं जडप्राय हो जाता है। उनके शरीरकी एक-एक गाँठ टूटती रहती है। जगत्के व्यवहार भूलकर कहीं लोटते हैं, कहीं दौड़ते हैं, कहीं खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। अपने आप न जाने क्या-क्या बका करते हैं और कभी-कभी मूर्च्छित हो जाते हैं। श्रीकृष्णके विरहमें ग्वाल-बालोंकी दशा भी गोपियोंके समान ही हो जाती है। श्रीरूपगोस्वामीके शब्दोंमें—

कंसारे विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जरा
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते।
वारं वारमखर्वलोचनजलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्निग्धाः कुरङ्गा अपि॥

'हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे विरहकी तरङ्गोंसे उत्पन्न ज्वालाएँ ग्वाल-बालोंको जर्जरित बना रही हैं। उनके श्वासका अङ्कुर भी अब क्षीण हो चला है। वे पर्वतकी तराइयोंमें निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। इतने निश्चल हो रहे हैं वे कि उनके चिर-परिचित स्नेही हरिन बार-बार अपने आँसुओंकी अजस्र धारासे भिगोकर भी जब उन्हें नहीं उठा पाते, तब बहुत देरतक उनके लिए शोक करते रहते हैं।' भगवान्के

विरहकी ऐसी अवस्था जिनके जीवनमें प्रकट हुई है, उन भाग्यवान् ग्वाल-बालोंके सम्बन्धमें और क्या कहा जा सकता है ?

ग्वाल-बालोंकी यह विरहावस्था व्यक्त लीलाके अनुसार है। इनके जीवनसे यह शिक्षा प्राप्त होती है कि सख्यरसके उपासकोंमें भगवान्के विरहकी कितनी ऊँची अवस्थाका प्रकाश होना चाहिए। अन्तर्लीलामें तो श्रीकृष्णके साथ इनका वियोग कभी होता ही नहीं। दास्यरसके समान ही इसमें भी संयोगकी सिद्धि, तुष्टि और स्थिति नामकी तीनों अवस्थाएँ होती हैं। पहले-पहल भगवान्का दर्शन जैसे पाण्डवोंको हुआ था, दुबारा-तिबारा दर्शन जैसे कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके समय ग्वाल-बालोंको हुआ था और सर्वदा एक साथ रहना जैसा कि व्रजके ग्वाल-बालोंका अन्तर्लीलामें रहता है–ये सब सख्य-रसकी ही उपर्युक्त अवस्थाएँ हैं। उनके सौभाग्यका भला कौन वर्णन कर सकता है, जो सन्तोंके परमानन्दस्वरूप आत्मा, भक्तोंके परमाराध्यदेव भगवान् और प्रेमियोंके परम प्रियतम श्रीकृष्णके साथ–जिनके चरणोंकी धूल बड़े-बड़े योगियोंको कोटि-कोटि कल्पकी तीव्र तपस्यासे भी दुर्लभ है—इस प्रकार खेलते हैं मानो कोई अपना ही समवयस्क, अपने ही-जैसा साधारण बालक हो। यही भगवान्के प्रति सख्यरतिका फल, सख्यरस है। शान्त और दास्यरसकी अपेक्षा इसका वैलक्षण्य बहुत ही सुस्पष्ट है और सहृदयोंके अनुभवगोचर इस रसकी रसरूपता भी निर्विवाद है। श्रीजीवगोस्वामीने दास्यरसको प्रीतिरसके नामसे और सख्यरसको प्रेयोरसके नामसे वर्णन किया है।

वत्सलरस

भगवान्के प्रति वात्सल्यरति ही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा व्यक्त होकर वत्सलरसका रूप ग्रहण करती है। इसके आलम्बन हैं—

बालक भगवान् और उनके गुरुजन। अयोध्यामें शिशुरूप भगवान् राम और ब्रजमें शिशुरूप श्रीकृष्ण—ये दोनों ही वात्सल्य-भाजन हैं। सुकुमार शैशवसे लेकर कमनीय कैशोरतक वात्सल्यरतिकी अवस्था है। यौवनका प्रारम्भ होनेपर भी गुरुजनोंकी दृष्टिमें किशोर अवस्था ही रहती है। नवीन नीलकमलके समान साँवला शरीर, शिरीष कुसुम-सा कोमल अङ्ग, मरकत मणिके समान सुचिक्कण कपोलोंपर घुँघराली अलकें, प्रभाव और ऐश्वर्यसे सर्वथा रहित नन्हें-से शिशुके रूपमें शैशवोचित चापल्य और व्याघ्रनख आदि भूषणोंसे विभूषित भगवान् अनुग्राहकके रूपमें नहीं, अनुग्रहपात्रके रूपमें इस वात्सल्यके लोकोत्तर आलम्बन हैं। तोतली बोली—मानों मूर्तिमान् मिठास, सरलताकी सीमा नहीं, गुरुजनोंके प्यारसे बार-बार उल्लसित एवं प्रफुल्लित होनेवाले, गुरुजनोंको बार-बार प्रणाम करनेवाले और बात-बातमें उनके सामने सकुचा जानेवाले, अपनी नन्हीं-नन्हीं हथेलियोंसे किसीको माखन और किसीको धन, रत्न लुटानेवाले बालरूप भगवान् गुरुजनोंके सम्पूर्ण स्नेहको अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। वेद, उपनिषद्-दर्शन और भक्त जिनकी महिमा गाते-गाते अघाते नहीं, वे ही भगवान् वात्सल्यरतिके वश होकर ऊखलमें बाँधे जाते हैं, डाँट-फटकार सुनते और माँकी साँटीसे डरकर रोने लगते हैं। क्या अलौकिक माधुर्य है! अवश्य ही वात्सल्यरतिकी महिमा और श्रीकृष्णकी प्रेम-परवशता है।

श्रीकृष्णके गुरुजन—जैसे नन्द, यशोदा और वे गोपियाँ जिनके बच्चोंको ब्रह्माने चुरा लिया था—इस रसके आलम्बन विभाव हैं। वे अपनेको श्रीकृष्णसे अधिक माता-पिता आदिके रूपमें मानते हैं, वे उनको दुलारते हैं, पुचकारते हैं और अपराध करनेपर दण्ड भी देते हैं। देवकी, कुन्ती, सान्दीपनि मुनि—ये सब भी गुरुजनोंकी ही

श्रेणीमें हैं। यशोदा अपने प्यारे शिशुको माखन खिलानेके लिए अपने हाथसे ही—बहुत-सी दासियोंके होनेपर भी—दही मथती हैं। वे श्रीकृष्णकी रक्षाके लिए गद्गद कण्ठ और अश्रुपूर्ण नयनोंसे श्रीकृष्णके शरीरमें मन्त्रों और देवताओंका न्यास करती हैं, उनके सिरपर रक्षातिलक करती हैं और भगवान्‌से, देवी-देवताओंसे प्रार्थना करती रहती हैं। अभी पूरा प्रातःकाल भी नहीं हुआ होता, श्रीकृष्ण सोकर उठे भी नहीं रहते, इनके स्तनोंसे दूधके रूपमें वात्सल्य-रस-की धारा फूट पड़ती है। यदि कोई वात्सल्य-रसका मूर्तिमान् दर्शन करना चाहता हो तो माँ यशोदाका दर्शन कर ले। ये वत्सल रसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसकी जननी हैं। नन्दबाबाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। जब श्रीकृष्ण उनके हाथकी अँगुली पकड़कर लड़खड़ाते हुए आँगनमें चलते हैं, तब नन्दबाबाका स्नेह उमड़ पड़ता है, उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू झर-झर झरने लगते हैं, पुलकित शरीरसे श्रीकृष्णको उठाकर वे अपने हृदयसे लगा लेते हैं और सिर सूँघकर बार-बार चूमते हैं। उनके सुख-सौभाग्यकी कल्पना भी मनकी सीमा-से परे है; उसका वर्णन तो किया ही कैसे जा सकता है।

वात्सल्यरसके उद्दीपन विभावोंकी संख्या अपरिमेय है। श्रीकृष्ण-की कुमार आदि अवस्थाएँ, उन अवस्थाओंमें प्रस्फुटित सहज सौन्दर्य और उसके अनुकूल वेष-भूषा एवं चपलताएँ, बोलना, हँसना, खेलना, रोना, सोना, जगना, रूठना—यहाँ तक कि बालोचित सभी क्रियाएँ उद्दीपन विभावके अन्तर्गत हैं। कुमार अवस्थाके तीन भाग होते हैं—आदि, मध्य और शेष। आदि अवस्थामें मध्य भाग और ऊरु कुछ स्थूल होते हैं। आँखके कोने श्वेत और बहुत थोड़े-से दाँत। अङ्ग-अङ्गमें मृदुलताका साम्राज्य होता है। इस अवस्थामें बार-बार पैर उछालना, एक क्षणमें रोना तो दूसरे ही क्षणमें हँस देना, अपने

पैरका अँगूठा चूसना और उतान पड़े रहना—यही चेष्टा होती है। गलेमें बघनहाँ, ललाटपर रक्षातिलक, आँखोंमें अञ्जन, कमरमें करधनी और हाथमें सूत—यही आभूषण होते हैं। नन्दरानी और नन्दबाबा इस शोभाको देख-देखकर कभी तृप्त नहीं होते, यही चाहते रहते हैं कि निर्निमेष नयनोंसे इन्हें निहारते रहें। मध्य अवस्थामें आँखोंके कोनोंमें कुछ केसरिया रंग आ जाता है। कभी कपड़ा पहिनते हैं और कभी नग्न रहते हैं। कान छिदे हुए होते हैं। तोतली बोली बोलते हैं। आँगनमें घुटनोंके बल चलते हैं। नाकमें मोती, हाथमें माखन, कमरमें घुँघुरू—यही आभूषण होते हैं। इनकी मन्द-मन्द मुस्कान और बालोचित चेष्टाओंको देखकर गुरुजन आनन्दित होते रहते हैं। शेष अवस्थामें कमर कुछ पतली और वक्षःस्थल कुछ ऊँचा हो जाता है। मस्तक पर घुँघराले बाल लहराते हैं। इस अवस्थामें कंधे पर पीताम्बरको चादर, जङ्गली पुष्पोंके आभूषण और छोटा-सा बेंतका डंडा आदि धारण करते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ खेलते हैं। गाँवके आस-पास उनके साथ बछड़ोंको चरा लाते हैं। छोटी-सी बाँसुरी और छोटी-सी सींग अपने पास रखते हैं और कभी-कभी पत्तोंके बाजे बनाकर बजाते हैं। जो इनकी लीलाओंको देख-देखकर मुग्ध होते रहते हैं, वे ही वास्तवमें बड़भागी हैं।

पौगण्ड अवस्थाका वर्णन सख्यरसके प्रसङ्गमें प्रायः आ ही गया है। आंखोंमें धवलिमा, सिरपर पगड़ी, बदनमें कञ्चुक, चरणोंमें मन्द-मन्द ध्वनि करनेवाले मनोहर नूपुर, पीताम्बर धारण किये हुए श्रीकृष्ण इस अवस्थामें गौओंको चराने लगते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ यमुनातटपर भी जाते हैं। किशोर अवस्थामें दोनों आँखोंके कोनोंमें किञ्चत् लालिमा आ जाती है। वक्षःस्थल ऊँचा होता है

सुन्दर हार धारण करते हैं। इसी समय नवयौवनका उन्मेष होता है, परन्तु वात्सल्य प्रेमवालोंको ये शिशु ही मालूम पड़ते हैं। दास्यरस-वालोंको ये पौगण्ड अवस्थामें भी किशोरके समान मालूम पड़ते हैं। बचपनमें ये कहीं दूधकी कमोरी फोड़ देते हैं, तो कहीं आँगनमें दही बिखेर देते हैं। कहीं मथानीका डंडा तोड़ देते हैं, तो कहीं माखन-आगमें डाल देते हैं, वानरोंको खिला देते हैं या ग्वाल-बालोंको बाँट देते हैं। गोपियोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए इसी समय माखन चोरी भी करते हैं। एक गोपी कह रही है 'बहन, तनिक अनजानकी तरह चुप होकर यह दृश्य देख तो लो—लताओंकी आड़में-से धीरे-धीरे पैर रखता हुआ कन्हैया सशङ्क भावसे इधर-उधर देखता हुआ माखनचोरी करनेके लिए कितनी चालाकी और मधुरताके साथ आ रहा है। ठहरो ! तनिक मुझे देख लेने दो—भयभीत आँखें किस प्रकार इधर-उधर घूम रही हैं, ओठ सूखा जा रहा है। इस छलियाकी छलना भी कितनी मधुर है ! तनिक देखो तो सही।

इस रसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा विलक्षण ही हैं, यथा—

१. गोदमें लेकर या हृदयसे लगाते हुए सिर सूँघना।

२. अपने हाथसे शरीरमें लगी हुई धूल झाड़ना, उबटन, तेल, फुलेल लगाना।

२. देवताओंसे रक्षाकी प्रार्थना करना, कवच बाँधना, न्यास करना, आशीर्वाद देना।

४. अमुक वस्तु ले आओ, अमुक वस्तु रख आओ—इत्यादि आज्ञा करना।

५. दुलारना-पुचकारना।

६. पशुओंसे, काँटेसे, नदीसे और भयके अन्य निमित्तोंसे रक्षा करना।

७. तुम्हें इस प्रकार रहना चाहिए, ऐसे नहीं रहना चाहिए—इत्यादि उपदेश करना।

८. चूमना, हृदयसे लगाना, नाम लेकर पुकारना, उलाहना देना, डाँटना इत्यादि !

नन्दरानी यशोदाके स्तनोंसे स्नेहाधिक्यके कारण दूध तो प्रायः निकलता ही रहता है। कभी-कभी श्रीकृष्णके खेलोंको देखकर वे चकित रह जाती हैं। उस दिन जब उन्होंने अपने लाड़लेको गोवर्धन उठाये हुए देखा, तो इनका शरीर स्तम्भित हो गया। ये उनका आलिङ्गन भी नहीं कर सकीं। आँखोंमें इतने आँसू आ गये कि देख भी नहीं सकीं। और तो क्या—गला रुँध गया, ये उन्हें समझा भी न सकीं कि तुम ऐसा साहस क्यों कर रहे हो। अन्तमें इन्होंने यही निश्चय किया कि मैं प्रतिदिन भगवान्‌की आराधना करती हूँ, प्रतिदिन अपने पुत्रकी रक्षाके लिए उनसे प्रार्थना करती हूँ—उसीका यह फल है। नहीं तो मेरा कुसुम-सा सुकुमार लल्ला इतना बड़ा पहाड़ भला कैसे उठा सकता है। इन सात्त्विक भावोंके अतिरिक्त हर्ष निर्वेदादि भी पूर्वोक्त रसोंके समान ही होते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि वत्सल-रसमें ऐश्वर्यका लेश भी—चाहे वह गौरवकी दृष्टिसे हो, या सम्भ्रमकी दृष्टिसे—बिल्कुल नहीं होता। अपने स्नेहपात्रके प्रति स्नेह करनेवालीकी जो विशुद्ध रति है, उसीका नाम वात्सल्य भाव है; यही वत्सल-रसका स्थायि-भाव है। यशोदामें यह वात्सल्य रति स्वभावसे ही परिपूर्ण रहती

है। औरोंमें यह कभी प्रेमके रूपमें, कभी स्नेहके रूपमें और कभी रागके रूपमें प्रकट होती है। श्रीकृष्णके दर्शनकी व्याकुलता, मुनि-जनोंके द्वारा पूजित होते समय भी उन्हें गोदमें बैठा लेना, हृदयका उनके स्नेहसे सर्वदा द्रवित रहना, उनके लिए, उनकी प्रसन्नताके लिए और उनकी सन्निधिके लिए, दुःखको भी सुखके रूपमें अनुभव करना—ये सब उसके लक्षण हैं।

इस रसमें ही पहले-पहल मिलनेके पूर्व उत्कण्ठा, एक बार मिलनेके पश्चात् विरह पूर्ववत् ही होते हैं। देवकी और कुन्तीकी उत्कण्ठा, श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेपर यशोदाका विरह कौन नहीं जानता। यशोदाका ऐसा वर्णन आता है कि उन्हें अपने बालोंकी सुधि नहीं रहती, व्यथित होकर इस प्रकार जमीनमें लोटतीं कि चोट लगनेकी भी परवा नहीं रहती। 'हा पुत्र ! हा पुत्र !' कहती हुई अपनी छाती पीटतीं। वत्सलरसमें वियोगकी इतनी अवस्थाएँ हो सकती हैं, होती हैं कि उनका वर्णन असम्भव है। विशेष करके चिन्ता, विषाद, निर्वेद, जड़ता, दीनता, चपलता, उन्माद और मोह—ये तो अत्यन्त अभिवृद्ध हो जाते हैं। थोड़े ही समयके लिए जब श्रीकृष्ण वनमें गौएँ चरानेके लिए जाते हैं, तो नन्दरानीकी चाल धीमी पड़ जाती है। मन कुछ स्तब्ध रहता है। आँखें कई बार स्थिर हो जाती हैं। श्वास गरम आने लगती है। अपने पुत्रकी अनिष्ट-शङ्कासे वे क्षुब्ध हो उठती हैं। श्रीकृष्णके मथुरा और वहाँसे द्वारका चले जानेपर तो उनके विषादकी सीमा न रही, वे कभी सोचती हैं कि हाय ! मैं कितनी अभागिनी हूँ कि अपने पुत्रकी मनोहर जवानी नहीं देख सकी। उसके विवाहका सुख देखना मेरे भाग्यमें नहीं बदा था। मेरे जीवनको धिक्कार, मैं उसे अब अपनी गोदमें नहीं बैठा पाती। इन गौओंसे अब मेरा कौन काम है, जिनका दही और माखन चुराकर

लुटानेवाला ही दूर चला गया। कभी वे घरमें जाती हैं, श्रीकृष्णकी बाँसुरी अथवा छड़ीपर आँख चली जाती है, तो वे घण्टों तक छड़ीकी तरह खड़ी रह जाती हैं, शरीर हिलता-डोलता तक नहीं। जड़ता दूर होनेपर वे बड़ी दीनतासे प्रार्थना करने लगती हैं—हे प्रभो, एक क्षणके लिए मेरे कन्हैयाको मेरी आँखोंके सामने ला दो; मैं जन्म-जन्म तुम्हारी ऋनियाँ रहूँगी। वे कभी-कभी विरहकी ज्वालासे चञ्चल हो उठती हैं और नन्दबाबाको उलाहना देने लगती हैं कि 'तुमने मेरे हृदयको, जीवन-सर्वस्वको, आँखोंके तारेको मथुरामें क्यों छोड़ दिया। मेरे बच्चेको माखन-मिश्री मिलती होगी कि नहीं, क्या पता! तुम यहाँ गोष्ठमें बैठकर आराम कर रहे हो।' वे कभी-कभी उन्मत्त होकर वृक्षोंसे, हरिनोंसे पूछने लगतीं कि क्या तुमने कहीं मेरे श्यामसुन्दरको देखा है। वे इतनी मोहित हो जाती हैं कि जब बहुत देरतक आँखें नहीं खुलतीं, तब नन्दबाबा अनेकों प्रकारके यत्न करके उन्हें जगानेकी चेष्टा करते हैं।

भगवान्‌का संयोग इस रसमें भी तीन प्रकारका ही माना गया है—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। जब श्रीकृष्ण पहले-पहल मथुरामें गये तो वहाँकी स्त्रियाँ, जिनका उनमें पुत्रभाव था, स्नेहकी रस-धारासे आप्लावित हो गयीं। उनके स्तनोंसे दूधकी धारा प्रवाहित होकर उनके वस्त्रोंको भिगोने लगी। कुरुक्षेत्रमें जब यशोदा और श्रीकृष्णका मिलन हुआ, तो माँके हृदयमें कितनी तुष्टि और कितने रसका सञ्चार हुआ—वर्णन नहीं किया जा सकता। लोगोंने देखा—यशोदाके नयनों और स्तनोंसे रसकी निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है और श्रीकृष्णका दिव्य अभिषेक सम्पन्न हो रहा है। श्रीकृष्णका नित्य संयोग जो कि अन्तर्लीलामें सर्वदा एकरस रहता है, उसकी रसरूपताका, उसके आनन्दका वर्णन करना ही उसे नीचे उतारना

है। प्रेम अन्तर्जगत्‌की वस्तु है। उसका कुछ बाह्यरूप है तो केवल सेवा। दास्यकी सेवामें और वात्सल्यकी सेवामें बड़ा अन्तर है। यह तो सख्यसे भी विलक्षण है। जिसके शुद्ध और भगवत्कृपापात्र हृदयमें इस भावका उदय और परिपोष हुआ है, वे ही इसका अनुभव कर सकते हैं।

बहुत-से काव्य-रसिकों और नाट्याचार्योंने भी वात्सल्य-भावके रसत्वको स्वीकार किया है। इस रसकी चमत्कार-कारिता निर्विवाद है। दास्यरसमें यदि भगवत्प्रेमका स्फुरण न होता रहे, तो ऐसा समझना चाहिए कि दास्यरस अभी परिपुष्ट नहीं हुआ है। प्रेमकी स्फूर्ति बिना सख्य-रसकी तो कोई स्थिति ही नहीं है। परन्तु यह वात्सल्यरस उनकी अपेक्षा यह महान् विलक्षणता रखता है कि प्रेमकी प्रतीति हो या न हो, यह ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण रहता है। जिस समय माता अपने शिशुकी ताड़ना करती है, उसकी चञ्चलताओंसे घबराकर उसे डाँटती है—यहाँ तक कि बाँध देती है और पीटती भी है—इन अवस्थाओंमें भी वात्सल्यभाव ज्यों-का-त्यों एक-रस बना रहता है। यही इसकी अनन्यसाधारण विशेषता है। कभी-कभी यह दास्य और वात्सल्यसे मिश्रित ही होता है। किसीका सख्यप्रधान वात्सल्य, किसीका दास्य-प्रधान वात्सल्य और किसीका उभयप्रधान वात्सल्य। वात्सल्य-प्रधान सख्य और दास्य भी होते हैं। ये सब भेद और इनके उदाहरण श्रीरूपगोस्वामीके ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं।

मधुररस

सत्पुरुषोंके हृदयमें भगवान्‌के प्रति जो मधुर रति होती है, वही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा परिपुष्ट होकर मधुर रसका रूप ग्रहण करती है। इस रसका इतना अधिक विस्तार है कि यदि इसकी

अवस्थाओंके केवल नाम ही गिनाये जायँ, तो एक बड़ा-सा ग्रन्थ बन सकता है। इसलिए यहाँ संक्षेपसे उसकी कुछ थोड़ी-सी बातें ही लिखी जायँगी। इसके आलम्बन हैं भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाएँ। भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्यकी त्रिभुवनमें किसीसे समता भी नहीं की जा सकती, उससे परेकी तो बात ही क्या। उनकी लीलाका माधुर्य लोकोत्तर है। अत्यन्त रमणीय, अत्यन्त मधुर, समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त, अत्यन्त बलवान्, नित्य-नूतन, नवयुवा और प्रेम-परवश, मदनमोहन श्यामसुन्दर। लहराते हुए बाल और फहराता हुआ पीताम्बर। जिसकी आँखें एक बार क्षणभरके लिए उन्हें देख लें, वह सर्वदाके लिए उन्हींपर निछावर हो जाता है। प्रेम करनेवालोंके अनुकूल, कृतज्ञ और रहस्यको गुप्त रखनेवाले यह मूर्तिमान् शृङ्गार हैं अथवा प्रेम। अङ्ग-अङ्गसे उन्मादकारी रस, मधुमय आनन्द छलक रहा है। धीर, वीर और गम्भीर, ललित और उदात्तचरित्र। ये मोहन भला, किसका मन नहीं मोह लेते! व्रजदेवियाँ तो इनपर निछावर हैं।

श्रीकृष्णकी वल्लभाएँ—द्वारकाकी, वृन्दावनकी—अत्यन्त प्रेम-मय, सहृदय और श्रीकृष्णको ही अपना जीवन-सर्वस्व माननेवाली नित्य नवकिशोरावस्था। प्रतिक्षण माधुरीकी धारा प्रवाहित होती रहती है। हृदय प्रेम और आह्लादकी तरङ्गोंसे उच्छ्वलित। इनमें व्रजकी गोपियाँ प्रधान हैं; गोपियों में राधा। राधाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। वे भगवान्की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण उनके अपने और वे श्रीकृष्णकी अपनी, श्रीकृष्ण राधा और राधा श्रीकृष्ण। भेद-भावकी माया छायामात्र भी नहीं। ऐसी स्थितिमें राधाकृष्णके पारस्परिक भावको कहा जाय तो कैसे, सोचा जाय तो कैसे? एक हीके दो रूप, दोके अनेक रूप, यही लीलाका स्वरूप

है। सभी गोपियाँ राधाकी ही अंश-विशेष, शक्तिविशेष हैं। उनमें स्वकीया और परकीयाका भेद लीलामात्र है, सो भी लीलारसकी परिपुष्टिके लिए। एक गोपी कहती है कि नन्दरानी मुझसे बड़ा स्नेह करती हैं, सखियाँ मुझे प्राणोंसे भी प्रिय समझती हैं और वृन्दावन वैकुण्ठसे भी उत्तम है। परन्तु यदि कात्यायनीकी आराधनाके फल-स्वरूप मयूरपिच्छधारी, गुन्जाकी माला पहने हुए, मदनमोहन श्रीकृष्ण प्राणप्रियके रूपमें न मिलें तो इन सबसे मुझे क्या लाभ? गोपियोंकी महिमा अनन्तकोटि मुखसे भी नहीं कही जा सकती है। उनसे प्रेमका उल्लास आर्यमर्यादाकी सीमा पार कर गया है। फिर भी सतीशिरोमणि अरुन्धती आदि श्रद्धापूर्ण हृदयसे उनके चरित्र और सौभाग्यकी महिमा गाकर अपनेको कृतकृत्य समझती हैं। वे वनमें रहनेवाली गोपबालाएँ इतनी मधुर हैं, इतनी रसाप्लावित हैं कि लक्ष्मीका प्रेम-सौन्दर्य इनके सामने धूमिल पड़ जाता है। गोपियोंकी अपेक्षा भी श्रीकिशोरीजीकी विशेषता दिखानेके लिए उज्ज्वलनीलमणिमें एक कथाका उल्लेख हुआ है—

रासके समय भगवान् गोपियोंके प्रेमकी और भी अभिवृद्धि करनेके लिए एक कुन्जमें जाकर छिप गये। गोपियोंको उनके बिना चैन कैसे पड़ती। वे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी कुन्जमें पहुँच गयीं, जिसमें श्रीकृष्ण छिपे हुए थे। अब पकड़े गये। नटवर श्रीकृष्णने वहीं एक लीला रच दी—द्विभुजसे चतुर्भुज हो गये। गोपियाँ देखकर सकुचा गयीं। उन्हें इस ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूपसे क्या काम। ये तो भक्तिनम्र हृदयसे दण्डवत् प्रणाम करने योग्य हैं! वे उनके चरणोंमें नमस्कार करके लौट गयीं। जब यह बात राधाके कानों तक पहुँची, तब उन्होंने कहा—'चलो तनिक मैं भी तो देखूँ, यहाँ ईश्वर अथवा विष्णुका क्या काम। हो-न-हो हमारे नटवर

श्यामसुन्दरकी ही कोई लीला होगी।' श्रीकिशोरीजीके वहाँ पहुँचते ही श्रीकृष्णको यह बात भूल गयी कि मैं चतुर्भुज रूप धारण किये हुए हूँ। अपनी प्राणप्रियाके दर्शनमात्रसे उनके कृत्रिम ऐश्वर्यका लोप एवं सहज माधुर्यका उदय हो गया। यहीं गोपियों और श्रीराधाका अन्तर परिस्फुट हो जाता है। गोपियाँ ऐश्वर्य सहन नहीं कर सकतीं, उन्हें केवल माधुर्य चाहिए और श्रीजीके सामने ऐश्वर्य ठहर नहीं सकता, मधुर रूपमें रहनेके लिए ही श्रीकृष्ण विवश हैं। राधाका श्रीकृष्णके प्रति जितना अधिक प्रेम है, उससे भी अधिक श्रीकृष्णका राधाके प्रति है। यहाँ न्यूनाधिक्यका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, दोनों प्रेम-स्वरूप हैं।

मधुररसके उद्दीपनोंकी संख्या इतनी अधिक है कि उनकी संख्या बतलाना भी कठिन है। यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें बहुत थोड़े-से लिखे जाते हैं—

१. थोड़ी सेवासे रीझना, असह्य अपराध हो जानेपर भी मुस्करा देना, दूसरेके लवमात्र दुःखसे भी कातर हो जाना इत्यादि भगवान्‌के स्वभावसिद्ध गुण।

२. इतनी रसमयी, मधुमयी और अश्रुतपूर्व प्रेमपूर्ण वाणी जो प्राणोंमें और हृदयमें अमृतका सिञ्चन करती है।

३. भगवान्‌की किशोर, यौवन आदि अवस्थाएँ, उनका रूप-लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य और मृदुलता आदि शारीरिक विशेषताएँ।

४. वंशीवादन, नृत्य, सुन्दर खेल, गोदोहन, गोवर्द्धनउद्धार, गवाह्वान और मत्तगतिसे गमन इत्यादि लीलाएँ।

५. वस्त्र, आभूषण, माला, अनुलेपन आदि शारीरिक अलङ्कार।

६. वंशी और शृङ्गीकी ध्वनि, मधुर गायन, शरीरकी दिव्य सुगन्ध, आभूषणोंकी झनकार, चरणचिह्न, उनका शिल्पकौशल आदि।

७. श्रीकृष्णका प्रसाद, मयूरपिच्छ, गुञ्जा, धातुएँ, सखाओंका दीख जाना, गोधूलि, गोवर्द्धन, यमुना, कदम्ब, रासस्थली, वृन्दावन, भौंरे, हरिन, कुञ्ज, लताएँ आदि।

८. मेघ, विद्युत्, वसन्त, चाँदनी, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु-सुन्दर-सुन्दर पक्षी आदि।

अनुभाव तीन प्रकारके होते हैं—अलङ्कार, उद्भास्वर और वाचिक। भाव, हाव, हेला—ये तीन शारीरिक; शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य—ये सात बेप्रयास ही होनेवाले तथा लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम आदि दस स्वाभाविक—ये बीस अलङ्कार कहे जाते हैं। शरीरपरसे वस्त्रका गिर जाना, बाल खुल जाना, अङ्ग टूटना, लम्बी साँस चलना—ये सब उद्भास्वर अनुभावके अन्तर्गत हैं। आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप आदि बारह प्रकारके वाचिक अनुभाव होते हैं। इनके अतिरिक्त मौग्ध्य और चकित नामके दो अनुभाव और भी होते हैं। अपने प्रियतमसे जानी हुई वस्तुको भी अज्ञानीके समान पूछना, यह मौग्ध्य है और भयका स्थान न होनेपर भी भयका बहाना करके प्रियतमके पास पहुँच जाना—जैसे भौंरेसे डरकर श्रीकृष्णसे लिपट जाना, यह चकित अनुभाव है। इस रसमें सभी प्रकारके सात्त्विक भाव उदय होते हैं—

१. स्तम्भ—हर्षसे, भयसे, आश्चर्यसे अथवा अमर्षसे, स्तम्भित हो जाना।

२. स्वेद—भगवान्‌के संस्पर्श, दर्शन आदिजनित आनन्दसे, भयसे अथवा क्रोधसे शरीरका पसीजने लगना।

३. रोमाञ्च—आश्चर्यसे, हर्षसे अथवा भयसे शरीरका रोमाञ्चित हो जाना।

४. स्वरभङ्ग—विषादसे, विस्मयसे, अमर्षसे, भयसे अथवा हर्षसे कण्ठका रुद्ध हो जाना, वाणीका स्वाभाविक ढंगसे नहीं निकलना।

५. कम्प—त्राससे, हर्षसे और अमर्षसे शरीरका काँपने लगना।

६. विवर्णता—विषादसे, रोषसे अथवा भयसे शरीरका विवर्ण हो जाना। (चेहरा फक्क हो जाना।)

७. अश्रुपात—हर्षसे, रोषसे, विषादसे आँसू गिरना।

८. प्रलय—सुखसे या दुःखसे शरीर और मनका अविचल हो जाना।

ये अपनी अभिव्यक्तिके तारतम्यसे धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सुदीप्त भेदसे पाँच प्रकारके होते हैं। यों तो सभी रसोंमें इन सात्त्विक भावोंका उदय होता है, परन्तु उनकी पूर्णता मधुर

रसमें होती है। निर्वेद आदि तीसों भाव उग्रता और आलस्यको छोड़कर पूर्णरूपसे इस मधुर रसमें ही अभिव्यक्त होते हैं। यदि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव—सबके लक्षण और उदाहरणकी चर्चा की जाय तो विशाल ग्रन्थ तैयार हो सकता है। एक-एकके अनेक-अनेक भेद होते हैं। जैसे निर्वेद ही अनेक कारणोंसे होता है। वियोगके कारण होनेवाले निर्वेदसे श्रीकिशोरीजी ललिता सखीसे कह रही हैं—

न क्षोदीयानपि सखि मम प्रेमगन्धो मुकुन्दे
क्रन्दन्तीं मां निजसुभगताख्यापनाय प्रतीहि।
खेलद्वंशीवलयिनमनालोक्य तं वक्त्रबिम्बं
ध्वस्तालम्बा यदहमहह प्राणकीटं बिभर्मि॥

'हे सखी! मुझमें श्रीकृष्णके प्रति तनिक भी प्रेम नहीं है, तुम विश्वास करो; मेरा श्रीकृष्णमें बड़ा प्रेम था और मैं उनकी सर्वश्रेष्ठ प्रेमपात्र थी, अपने इस सौभाग्यकी ख्यातिके लिए ही मैं रो रही हूँ। सखि! प्रेमकी यह कैसी विडम्बना है कि राग, स्वर, ताल और मूर्च्छनाके साथ बाँसुरीमें स्वरलहरी भरते हुए श्यामसुन्दरके मुखचन्द्रको देखे बिना ही, जीवनका सहारा टूट जानेपर भी मैं अपने प्राणरूपी कीड़ोंको जो मुझे निरन्तर डस रहे हैं, धारण कर रही हूँ और इतना ही नहीं, उनका पालन कर रही हूँ।' श्रीजीके इन वचनोंमें कितना निर्वेद है, इसका अनुभव कोई सहृदय ही कर सकता है। इसी प्रकार सभी भाव श्रीजीके और गोपियोंके जीवनमें व्यक्त हुए हैं।

इस रसमें मधुर रति ही स्थायिभाव है। उसके आविर्भावके सात कारण बतलाये गये हैं। यथा—

१. अभियोग—अपनी चेष्टाओंसे हृद्गत भावोंका प्रकाश, वह चाहे प्रियतमके सम्मुख ही हो अथवा दूसरा कोई जाकर उससे कहे।

२. विषय—शब्द-स्पर्शादि पाँच विषयोंमेंसे किसी एकका या सबका आकर्षण—जैसे भगवान्की मधुर वाणी, वंशीध्वनि, अकस्मात् स्पर्श, सुन्दर रूपका दीख जाना इत्यादि।

३. सम्बन्ध—उनके कुल, रूप आदि सामग्रीके गौरवसे उनके साथ सम्बन्ध-स्थापन।

४. अभिमान—संसारमें यदि बहुत-सी उत्तम और रमणीय वस्तुएँ हैं तो वे रहें, मुझे तो यही चाहिए—इस प्रकारका दृढ़ निश्चय।

५. श्रीकृष्णकी विशेषताएँ—श्रीकृष्णके पदचिह्न, गोष्ठ और प्रियजन जो उनसे प्रेम करते हैं, उनका दर्शन, मिलन, वार्तालाप।

६. उपमा—उनके समान कोई-सी भी वस्तु देखकर उनकी स्मृतिमें तल्लीन हो जाना। जैसे बादल देखकर घनश्यामकी स्फूर्ति, कमल देखकर कमलके समान नयनोंकी स्फूर्ति—इत्यादि।

७. स्वभाव—यह दो प्रकारका होता है, एक निसर्ग और दूसरा स्वरूप। दृढ़ अभ्यास करते-करते जो संस्कार बन गये हैं, गुण, रूप और नामके किञ्चित् श्रवणमात्रसे उनका उद्बोधन निसर्गके नामसे

कहा जाता है—जैसे रुक्मिणीका। स्वरूप वह है जिसमें किसी निमित्तकी आवश्यकता नहीं होती, स्वतः सिद्ध प्रेम भाव होता है—जैसे व्रजदेवियोंका।

मधुर रति ही क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावके रूपमें परिणत होती है। उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें कहा गया है कि जैसे ईखका नन्हा-सा अङ्कुर क्रमशः ईख, रस, गुड़, खण्ड, चीनी, मिश्री और ओलेका रूप धारण करता है, वैसे ही यह रति भी भावके रूपमें परिणत होकर पूर्णताको प्राप्त होती है। रतिसे भाव पर्यन्त सभी प्रेम शब्दके द्वारा कहे जाते हैं। प्रेमी और प्रियतमके उस भावसम्बन्धको, जो नाशका कारण उपस्थित होनेपर भी नष्ट नहीं होता, प्रेम कहते हैं। इसके प्रौढ़, मध्य और मन्द—तीन भेद होते हैं। वियोगकी असहिष्णुता, दुःखपूर्वक सहिष्णुता और यदा-कदा किञ्चित् विस्मृति—क्रमशः यही तीनोंके स्वरूप हैं। यही प्रेम जब और भी उद्दीप्त होकर हृदयको अतिशय द्रवित कर देता है, जिससे दर्शन-स्पर्शमें कभी भी तृप्ति नहीं होती, तब उसे स्नेह कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—अङ्गसङ्गमें अतृप्ति, दर्शनमें अतृप्ति और नाम-गुणके श्रवण आदिमें अतृप्ति। ये क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। स्नेह दो प्रकारका होता है—घृतस्नेह और मधुस्नेह। पहलेमें कुछ आदरभाव रहता है और दूसरेमें केवल अतिशय ममता। घृतस्नेहमें थोड़ा उन्माद और अपनापन भी रहता है। घृतस्नेहमें मैं उनका हूँ, यह भाव रहता है और मधुस्नेहमें वे मेरे हैं, यह भाव रहता है। स्नेह ही उत्कर्षको प्राप्त होकर नवीन माधुर्यके साथ मानके रूपमें प्रकट होता है। इसके दो भेद हैं—उदात्त और ललित। उदात्त मानमें घृतस्नेहकी विशेषता रहती है—अनुकूलता अधिक और प्रतिकूलता

कम। ललित मानमें मधुस्नेहकी प्रधानता रहती है—प्रतिकूलता अधिक और अनुकूलता कम। यही मान जब सम्भ्रम रहित होकर अत्यन्त विश्वासके साथ परिपक्व अवस्थाको प्राप्त होता है, तब प्रणय नाम धारण करता है। प्रणय दो प्रकारका होता है—मैत्र और सख्य। विनयमुक्त विश्वास मैत्र है और प्रियतमको अपने वशमें रखनेवाला उन्मुक्त विश्वास सख्य है। यह प्रणय ही आगे चलकर रागके रूपमें अनुभवका विषय होता है।

जिसमें अधिक-से-अधिक दुःख भी सुखके रूपमें ही अनुभव होने लगता है, प्रणयकी उस उत्कृष्ट अवस्थाको ही राग कहते हैं। यही गुप्त रहनेपर नीलीराग और प्रकट होनेपर श्यामारागके नामसे कहा जाता है। और भी इसके अनेकों भेद हैं। यह राग प्रतिक्षण वर्द्धमान और नवनवायमान होकर अनुरागके रूपमें प्रकट होता है। यह प्रतिक्षण अनुभूयमान प्रिय समागमको और प्रियतमको भी नित्य नूतन बनाता रहता है। इस अवस्थामें ऐसा मालूम होता है—अभी मिलन हुआ है, अभी मैंने पहले-पहल देखा है। इसमें प्रेमी और प्रियतम एक दूसरेके अधीन रहते हैं। प्रियतमके सम्मुख रहनेपर भी वियोगकी आशङ्कासे मृत्युके समान दुःखका अनुभव होने लगता है और इस अवस्थाको देखकर स्वयं प्रियतम श्रीकृष्ण भी चकित-स्तम्भित रह जाते हैं। इसीका नाम प्रेमवैचित्त्य है। अनुरागकी इस स्थितिमें संयोग होनेपर भी अतृप्तिकी सीमा नहीं रहती। ऐसी लालसा होती है—यदि मैं बाँस बन जाती तो बाँसुरीके रूपमें नित्य-निरन्तर प्रियतमके अधरोंकी सुधा-मधुरिमाका आस्वादन करती रहती। यदि कहीं इस अवस्थामें प्रियतमका विछोह हुआ तो जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं उनके दर्शन होते हैं। इसी अवस्थाके सम्बन्धमें कहा गया है कि संयोगसे वियोग ही उत्तम है; क्योंकि संयोगमें

अपने प्राणनाथ अकेले रहते हैं और वियोगमें सारा संसार ही उनका रूप हो जाता है।

यद्यपि प्रेमकी सभी अवस्थाएँ स्वसंवेद्य एवं अनिर्वचनीय हैं, तथापि अबतक जिनका वर्णन हुआ है, वे रसिकोंके द्वारा अनुमेय तथा ज्ञेय हैं। भगवान्‌की द्वारकास्थित नित्य सहचरियोंमें भी इनका प्रकाश होता है और व्रजदेवियोंमें तो ये सहज स्वभावसिद्ध रूपसे ही रहती हैं। यह अनुराग ही जब परसंवेद्यतासे ऊपर उठकर स्वसंवेद्य रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, जब प्रेमी अनुरागीके रूपमें न रहकर अनुरागस्वरूप हो जाता है, श्रीकृष्णकी अनुभूतिका सुख, प्रेमकी अनुभूतिका सुख और सुखकी ऐसी अनुभूति होती है जिसे अनुभूति कहना भी नहीं बनता, तब उस अनुरागकी ही भाव संज्ञा होती है। द्वारकाकी श्रीकृष्णपत्नियोंके लिए भी यह अत्यन्त दुर्लभ है, व्रजकी देवियोंमें इसीका नाम महाभाव है। दूसरे किसीको भी इसकी उपलब्धि नहीं होती। यह अमृतस्वरूप श्रेष्ठ रस है, इसे आनन्दकी सीमा कहते हैं। इसमें दिव्य प्रेमी दिव्यतास्वरूप ही होता है। इसके दो भेद हैं—रूढ महाभाव और अधिरूढ महाभाव। जिस महाभावमें सात्त्विक भाव उद्दीप्त रहते हैं, उसे रूढ महाभाव कहते हैं। इसमें प्रियतमके दर्शनसुखमें बाधक होनेके कारण पलकोंका गिरना भी असह्य हो जाता है—'यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृत शपन्ति।' इस स्थितिके प्रेमीको—व्रजदेवियोंको देखनेवाले प्रेम-समुद्रमें डूबने-उतराने लगते हैं। स्वयं लक्ष्मी भी चकित—स्तम्भित हो जाती हैं। इस परम रसमें कल्पान्त-पर्यन्त मग्न रहनेपर भी एक क्षण-जितना भी मालूम नहीं होता। प्रियतमको सुख मिलनेपर भी कहीं उन्हें कष्ट न पहुँच जाय, इस आशंकासे खेद होने लगता है। गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णके चरण-कमल रखते समय डरने लगती

हैं कि कहीं इसकी कर्कशता उनके दुःखका कारण न हो जाय—'भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।' प्रेमकी इस सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें, जहाँ मोह आदि प्राकृत भावोंका प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है, अपनेको, परायेको, सबको भूल जाना और श्रीकृष्णके बिना एक क्षणका भी कल्पसे अधिक मालूम होना इस रूढ महाभावकी असाधारण विशेषता है—'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।'

रूढ महाभावमें जो अनुभाव होते हैं, उनकी अपेक्षा और भी विशिष्ट—जिनका निर्वाचन नहीं किया जा सकता—अधिरूढ महाभावमें प्रकट होते हैं। यदि समस्त मोक्षसुख अथवा ब्रह्मसुखको और त्रैकालिक संसार-सुखको एक स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय और संसारके समस्त त्रैकालिक दुःखोंको दूसरे स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय तो ये दोनों ही इस अधिरूढ महाभावके सुख-दुःखरूपी महासागरकी एक बूँदके समान भी नहीं हो सकते। यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँका दुःख जागतिक दुःख-जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह भी दिव्य रसका ही एक रूप है। इस दुःखके लेशमात्रकी समतामें संसारके समस्त सुख तुच्छ हैं। इसीसे यह दुःख भी परम पुरुषार्थ प्रेमका अत्यन्त उत्कृष्ट स्वरूप है। अधिरूढ महाभावके दो प्रकार हैं—मोदन और मादन। जिसमें सात्त्विक भाव प्रेमी और प्रियतम दोनोंमें ही सूद्दीप्तरूपसे प्रकट रहते हैं, दोनों ही स्तम्भित-कम्पित रहते हैं, उसको मोदन कहते हैं। दोनोंको इस अवस्थामें देखकर प्रेमी भी विक्षुब्ध हो जाते हैं। दोनोंके प्रेमकी सम्पत्ति समस्त चराचरकी प्रेम-सम्पत्तिसे बढ़ जाती है। यह मोदन ही विरहकी अवस्थामें मोदन कहा जाता है। इसमें भी विरहकी विवशतासे प्रिया-प्रियतम दोनोंमें ही सात्त्विक भाव सूद्दीप्त रहते हैं। इसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण हैं। इस मोदन दशामें द्वारकास्थित अन्य

पत्नियोंके द्वारा आलिङ्गित होनेपर भी राधाका स्मरण करके श्रीकृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं वृन्दावनमें यमुनातटवर्त्ती निकुञ्जमें श्रीजीके साथ रास-विलास कर रहा हूँ। असह्य दुःख स्वीकार करके भी जिस प्रकार अपने प्रियतम सुखी हों, वही चेष्टा इसमें की जाती है। इस सम्बन्धमें गोपियोंका कितना सुन्दर भाव है, यह उन्हींके शब्दोंमें सुनने योग्य है—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥

'यदि श्रीकृष्ण वृन्दावन आ जायँ तो हमें बड़ा सुख होगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यदि यहाँ आनेसे उनकी तनिक भी क्षति हो, तो वे यहाँ कभी न आवें। यद्यपि उनके यहाँ न आनेसे हमें महान् दुःख होगा, तथापि यदि वहाँ रहनेमें ही सुख होता है तो वे सुख-पूर्वक वहीं निवास करें।' कहना न होगा कि गोपियोंका यह भाव प्रेमकी अत्यन्त ऊँची स्थितिका उद्गार है। इस स्थितिके प्रेमीका जीवन, उसका श्वास-प्रश्वास निखिल ब्रह्माण्डमें प्रेमका सञ्चार कर देता है। इस अवस्थाका प्रेमी जब तारस्वरसे रुदन करने लगता है, तब पशु-पक्षी भी—यहाँ तक कि लता-वृक्ष भी उसके साथ रोने लगते हैं। प्रेमी अपनी मृत्युकी आशङ्कासे इस जन्ममें प्रियतमका मिलना असम्भव देखकर यह अभिलाषा करने लगता है कि मेरे शरीरके पञ्चभूत मृत्युके पश्चात् भी प्रियतमकी सन्निधिमें रहकर उनकी सेवामें लगें—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

'शरीरकी मृत्यु हो जाय, पाँचों भूत अपने-अपने मूल कारणमें विलीन हो जायँ—इसमें मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं है। परन्तु उनके सम्बन्धमें परमात्माको प्रणाम करके मैं एक वरदानकी प्रार्थना करता हूँ। जिस बावलीका वे जल पीते हैं उसमें मेरे शरीरका जलांश, जिस दर्पणमें वे अपना मुख देखते हैं उसमें मेरे शरीरकी ज्योति, उनके आँगनके आकाशमें मेरे शरीरका आकाश, उनके मार्गमें मेरे शरीरकी मिट्टी और उनके पंखेमें मेरे शरीरकी हवा मिल जाय।' प्रेमकी कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है! यही मोहन दशा आगे चलकर दिव्योन्मादका रूप धारण करती है। इसमें प्रेमी प्रियतमके लिए उनके न होनेपर भी शय्या सज्जित करता है, अपना शृङ्गार करता है और विरहोद्भ्रान्त होकर नाना प्रकारकी चेष्टा करता है। प्रियतमके सुहृदोंको देखकर अनेकों प्रकारके प्रलाप करने लगता है। जल्प, प्रजल्प आदिके भेदसे वे दस प्रकारके होते हैं, जो श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धान्तर्गत भ्रमरगीतमें सुस्पष्टरूपसे प्रकट हुए हैं। प्रायः ये भाव श्रीराधामें ही पूर्णरूपसे प्रकाश पाते हैं।

रतिसे लेकर महाभावपर्यन्त जितने भी भाव हैं वे सब जब उल्लसित हो जाते हैं, तब संयोग अवस्थामें आह्लादिनीका सार एवं सर्वश्रेष्ठ मादन नामका परात्पर भाव उदय होता है। इसका उदय राधाके अतिरिक्त किसीमें नहीं होता। इसकी स्थिति विचित्र ही होती है। भगवान्‌का सर्वदा संयोग रहनेपर भी उनके वक्षःस्थलपर नित्य

विराजमान वनमालाके साथ इस अवस्थामें ईर्ष्या होने लगती है और ऐसे भाव उठने लगते हैं, कि 'री वनमाले ! तू हमारा तिरस्कार करके नित्य-निरन्तर प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहार करती रहती है। यह तो हम लोगोंके प्रति तुम्हारा विद्वेष है।' यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अवस्थाके ईर्ष्यादि भाव भी दिव्य ही होते हैं। इस मादनकी अनेकों दशाएँ हैं और अनिर्वचनीय गतियाँ हैं। संयोग-लीलाके अधिकांश भेद इसीके अन्तर्गत हैं। लीलाभेदसे जो भावभेद होते हैं, उनकी कल्पना भी साधारण चित्तमें नहीं आ सकती। मधुर-रसमें यही सब लोकोत्तर चमत्कारी भाव, जो कि रसरूप हैं, विकास और पूर्णताको प्राप्त होते हैं। श्रीराधाजी महाभाव-स्वरूपिणी हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें समस्त भावोंकी अपेक्षा इस महाभावकी उत्कृष्टताका वर्णन करके कहा गया है।

ह्लादिनीर सार अंश तार प्रेम नाम।
आनन्द चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परम सार महाभाव जानि।
सेइ महाभावरूपा राधा ठाकुरानि॥
प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमें विभावित।
कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठा जगते विदित॥
सेइ महाभाव हय चिन्तामणि-सार।
कृष्ण-वाञ्छा पूर्ण करे एइ कार्य यार॥
महाभाव-चिन्तामणि राधार स्वरूप।
ललितादि सखी यार कायव्यूहरूप॥

यह मधुर महाभावरूपा परिपुष्ट मधुर रति ही मधुररस, उज्ज्वल-रस अथवा दिव्य शृङ्गाररसके नामसे कही जाती है। यद्यपि इस

अवस्थामें प्रिया-प्रियतमका वियोग किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, तथापि संयोगकी परिपुष्टिके लिए वह भी होता है। इसलिए इस रसके दो भेद हो जाते हैं—एक तो संयोग और दूसरा वियोग। वियोगकी चार अवस्थाएँ होती हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य और प्रवास। श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनसे, स्वप्न-दर्शनसे अथवा चित्र-दर्शनसे इसकी उत्पत्ति होती है। वन्दीजन, दूती, सखी और किसी गायकके मुखसे श्रीकृष्णके सद्‌गुण, सौन्दर्य आदिका श्रवण करनेसे भी पूर्वरागका सञ्चार होता है। मधुर रतिके उदयके प्रसंगमें जो अभियोग आदि हेतु बतलाये गये हैं, वे सब इसमें भी कारण हैं। यह प्रौढ़, समञ्जस और साधारण भेदसे तीन प्रकारका होता है। इसमें व्याधि, शङ्का, असूया आदि सभी सञ्चारी भावोंका उदय होता है। प्रियतमकी प्राप्तिके लिए लालायित रहना, चित्तका उद्विग्न होना, नींद न आना, शरीरका दुबलापन, जड़ हो जाना, चित्तका व्यग्र होना, शारीरिक व्याधि, उन्माद, बेहोशी और मृत्युपर्यन्त तक की अवस्थाएँ पूर्वरागमें भी प्राप्त होती हैं। प्रियतमका स्मरण, उनकी प्राप्तिके उपायकी चिन्ता, उनके गुण, नाम, लीला आदिका कीर्त्तन, पत्रप्रेषण, मालार्पण आदि इसके विशेष चिह्न हैं। मानका प्रसङ्ग बहुत ही प्रसिद्ध है और भावोंके प्रसंगमें प्रेमवैचित्त्यका उल्लेख किया जा चुका है! इसलिए उनका पिष्टपेषण उचित नहीं जान पड़ता।

मिलनके पश्चात् प्रिया-प्रियतमके समागममें जो व्यवधान होता है, उसे प्रवास कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—एक तो जान-बूझकर और दूसरा विवशतासे अनजानमें। थोड़ी दूर और थोड़ी देरका प्रवास एवं बहुत दूर और बहुत दिनोंका प्रवास; इसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानका प्रवास; दैवी कारणोंसे अथवा लौकिक

कारणोंसे प्रवास। इन सभी प्रवासोंमें श्रीकृष्णकी ही चिन्ता, जागते रहनेके कारण स्वप्नमें भी नहीं आना, हृदयमें आग जलती रहना, शरीरका सूख जाना, मैला-कुचैला रहना, प्रलाप करना और हृदयमें अत्यन्त सन्ताप रहना—यही सब दशाएँ होती हैं। श्रीराधा ललितासे अपनी व्याधिका वर्णन कर रही हैं—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविशूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥

'जो स्वर्णके जलते हुए द्रवसे भी अधिक तापकारी है, कालकूट विषसे भी अधिक क्षुब्ध करनेवाला है, वज्रसे भी अधिक दुस्सह है, हृदयमें बिंधे हुए शल्यसे भी अधिक तीखा है और उग्र विषूचिकाओंके समूहसे भी अधिक तीव्र है, वही यह श्रीकृष्णके वियोगका तीव्र ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको बेध रहा है।

श्रीकृष्णके वियोगमें कभी हँसना, कभी रोना, निष्प्रयोजन भटकना, पशु-पक्षियों और लता-वृक्षोंसे भी प्रियतमका पता पूछना और जमीनमें लोटना आदि उन्मादके बहुत-से लक्षण प्रकट हो जाते हैं। दुःखकी अधिकतासे कर्त्तव्याकर्त्तव्य-ज्ञानशून्य हो जाना, मर जाना और मरकर फिर जीना और फिर वही अवस्था। इस प्रकार एक क्षणके लिए भी विरहके पंजेसे छुटकारा नहीं मिलता। प्रेमकी सभी अवस्थाओंमें वियोगकी मर्मवेधिनी पीड़ा होती है और उनके अनुभव भी प्रकट होते हैं। अधिरूढ महाभावमें मोहन दशाका वर्णन करते हुए जो कुछ कहा गया है, उसे यहाँ स्मरण कर लेना चाहिए

और ऐसा समझना चाहिए कि वह तो बहुत कम है। विरहीकी वेदना कोई विरही ही जान सकता है, सो भी यदि उसी श्रेणीका हो। प्रकट लीलाके अनुसार विरहकी परिपूर्णता व्रजदेवियोंमें ही देखी जाती है। अन्तर्लीलामें तो उनका एकरस विहार सदा-सर्वदा चलता ही रहता है।

भगवान्‌का संयोग-सुख अवर्णनीय है। वास्तवमें मधुररसकी यही चरम परिणति है। प्रणय-परिणयकी यही मधुयामिनी है। रतिका नाम यहीं आकर सार्थक होता है। वैसे तो सभी रस हैं। परन्तु यह रसराजकी भी सरस अवस्था है। यह दिव्य उज्ज्वल शृङ्गार श्रीमद्भागवतके रास-प्रसङ्गमें जैसा अभिव्यक्त हुआ है, वैसा और कहीं नहीं। यह स्वप्न और जाग्रत्‌के भेदसे दो प्रकारका होता है। स्वप्नका संयोग अत्यन्त गौण है। फिर भी भगवान्‌के साथ मानस संयोग होनेके कारण उसकी रसरूपतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। जागरणमें जितने प्रकारके संयोग और उसकी लीलाएँ हो सकती हैं, उनसे भी अधिक स्वप्नमें सम्भव हैं। प्रेमियोंका स्वप्न साधारण स्वप्न नहीं है। मूढ़ पुरुषोंके जागरण और योगियोंकी समाधिसे भी उसका ऊँचा स्थान है। प्रेमियोंका दिव्य मन समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्‌से ऊपर उठा हुआ, दिव्य होता है। अन्तः-करणके साधारण विकार स्वप्नका उस प्रेमराज्यमें प्रवेश नहीं है। इसलिए प्रेमियोंका भगवत्संयोगरूप दिव्य स्वप्न भी अलौकिक ही होता है।

जाग्रत् अवस्थामें चार प्रकारके संयोग होते हैं—संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान्। व्रजदेवियोंके जीवनमें ये सभी अपने अवा-न्तर भेदोंसहित अनुभवके विषय होते हैं। उनका वर्णन लेखविस्तार-

भयसे नहीं किया जाता। संयोगकी लीलामें प्रियतमका दर्शन, उनके साथ वार्तालाप, उनका स्पर्श, उनके साथ वृन्दावनके निकुञ्जोंमें रहस्य-क्रीड़ा, जल-विहार, रासलीला, नौकालीला, वेषपरिवर्त्तन कपटशयन, वंशीचौर्य्य, मार्गरोधन आदि अनेकों लीलाएँ होती हैं—जिनका अनुभव कोई गोपीभावापन्न सरसहृदय प्रेमी ही कर सकता है। भगवान्‌के लीलाप्रतिपादक ग्रन्थोंमें इन लीलाओंका अत्यन्त हृदयस्पर्शी भाषामें वर्णन हुआ है। मधुर रसके रसिकोंको वहींसे उनका आस्वादन करना चाहिए।

यहाँ तक हमने भक्तिरसकी जिन पाँच धाराओंमें अवगाहन किया है और जिनमें डूब-डूबकर सम्पूर्ण प्राणसे और उन्मुक्त हृदयसे रसास्वादन किया है, वे सब-के सब स्वर्गीय सुधा और मोक्ष-सुखको भी तिरस्कृत करनेवाले परमामृतस्वरूप दिव्य रस हैं—इसमें सन्देह नहीं। इनमें उत्कृष्ट और निकृष्टका भेद करनेका हमें कोई अधिकार नहीं। जिस प्रेमीको जिस रसकी अनुभूति हुई है, उस रसके रूपमें उसे भगवान्‌की ही अनुभूति हुई है; क्योंकि भगवान् ही रसस्वरूप हैं। उनकी अनुभूति ही वास्तविक रसानुभूति है। इसलिए हम नम्र हृदयसे प्रेमपरिप्लुत होकर उनके प्रेमको ही युगल सरकारके उस लोकोत्तर महाभावस्वरूपको ही प्रणाम करें—

> आसृष्टेरक्षयिष्णुं हृदयविधुमणिद्रावणं वक्रिमाणं
> पूर्णत्वेऽप्युद्वहन्तं निजरुचिघटया साध्वसं ध्वंसयन्तम्।
> तन्वानं शं प्रदोषे धृतनवनवतासम्पदं मादनत्वा-
> दद्वैतं नौमि राधादनुजविजयिनोरद्भुतं भावचन्द्रम्॥

कृपाके विलास

१. ईश्वरवादी मानव-समाजमें यह सिद्धान्त सर्वसम्मतिसे मान्य है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अपराधीन, परमप्रेमास्पद एवं परमकृपालु है। किसी-किसी सम्प्रदायमें ऐसा स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र होनेपर भी प्रेमके परतन्त्र है। इसमें यह प्रश्न है कि ईश्वर जीवके हृदयमें रहनेवाले प्रेमके परतन्त्र है अथवा अपने हृदयमें रहनेवाले प्रेमके? जीव जैसे भगवान्के सौन्दर्य, औदार्य, सौशील्य, माधुर्य आदि सद्गुणोंको देखकर उनपर मुग्ध हो जाता है, तो ईश्वर जीवके किन गुणोंको देखकर उसके प्रति मुग्ध होता है? वस्तुतः ईश्वर किसी अन्यके गुणोंको देखकर मुग्ध नहीं होता। उसमें ही उसका स्वरूपसिद्ध कोई सहज स्वाभाविक गुण है कि वह स्वयं अपनी कृपा बरसाने लगता है। 'मेघ जलमय प्रभु कृपामय', 'कृपैव प्रभुतां गता', 'प्रभु मूरति कृपामयी है।' प्राचीन ग्रन्थोंमें कारुण्य, कृपा, अनुकम्पा, अनुग्रह, पुष्टि, दया आदिके नामसे एक ही वस्तु प्रसिद्ध है और वह है भगवान्का सहज स्वभाव। वह नैमित्तिक नहीं है, भागवत आनन्दका सरल-सरल, तरल-तरल पावन प्रवाह है।

२. भगवत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नों और समस्याओंका समाधान उनकी कृपामें ही निहित है, जैसे निराकार साकार क्यों होता है? अव्यक्त व्यक्तिके रूपमें क्यों प्रकट होता है? पूर्ण परिच्छिन्न कैसे होता है? अकाल कालकी धारामें कैसे आ जाता है? कारण कार्यके रूपमें कैसे परिणत होता है? वह मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके रूपमें क्यों अवतीर्ण होता है? असम्बन्ध होनेपर भी सम्बन्धी क्यों बनता है? इन सबका और ऐसी अनेक मानसिक विकल्प-ग्रन्थियोंका, बौद्धिक उलझनोंका एक ही समाधान है—दृश्यके अनेक नामरूपमें अजस्र, प्रवहमान एवं तरंगायमान कृपा स्रोतस्विनीकी अखण्ड धारा। सत् पुरुष अपने अन्तर्दर्शिनी, तत्त्वावगाहिनी दृष्टिसे इसका सन्तत दर्शन करते रहते हैं। कृपा एक दर्शन है, भाव नहीं। श्रीमद्भागवतमें अनुकम्पासे समीक्षणका वर्णन है, प्रतीक्षणका नहीं। समीक्षण प्राप्तका होता है और प्रतीक्षण अप्राप्तका। सम्पूर्ण जीव-जगत्का कृपामय परमेश्वरमें ही उन्मज्जन-निमज्जन हो रहा है। कृपा-प्राप्तिकी लालसा मत करो, उसको पहचानो।

३. श्रीमद्भागवतके व्याख्याकार महापुरुषोंने कहा है कि जब श्री यशोदा माताने बालकृष्णको बाँधनेके लिए हाथमें रस्सी उठायी तो भगवान्की स्वतःसिद्ध अनेक शक्तियाँ उसमें बाधा डालनेके लिए उद्यत हो गयीं। व्यापकता कहती थी कि जिसका ओर-छोर नहीं, वह रस्सीकी लपेटमें कैसे आयेगा? पूर्णता कहती थी कि जिसमें बाहर-भीतर नहीं, वह रस्सीके भीतर कैसे अँटेगा? असंगता घोषणा कर रही थी कि प्रभुके शरीरके साथ रस्सीका संग असम्भव है। अद्वितीयताने स्पष्ट मना कर दिया कि स्वरमें स्वका क्या बन्धन? बन्धन परके साथ होता है। इस आपाधापीके समय श्रीमती भगवती भास्वती कृपादेवी मन-ही-मन मुस्कुरा रहीं थीं। उन्होंने एक बार

अपनी तिरछी चितवनसे देखा और सब शक्तियाँ निष्प्राण-सी धरी-की-धरी रह गयीं। बालकृष्ण प्रभु बन्धनमें आ गये। दामोदर नाम-रूप प्रकट हो गया। भक्त केवल प्रेमकी रस्सीसे ही नहीं, पशु बाँधनेकी रस्सीसे भी प्रभुको बाँध लेते हैं। भक्तमें इतना सामर्थ्य कहाँसे आता है? इस प्रश्नका उत्तर है—'कृपयासीत् स्वबन्धने।' ठीक ही है, भगवती कृपा ही शक्ति-चक्रवर्तिनी हैं, भगवान्‌की प्रेयसी पटरानी।

४. जब घर-बाहर-सर्वत्र प्रलयाग्निकी ज्वाला धधकने लगती है। अपने पाप-तापको मायासे सम्पूर्ण विश्व झुलसने लगता है, उस समय एक सच्ची माँ जैसे अपने शिशुओंको गोदमें उठा लेती है, वक्षःस्थलसे चिपका लेती है, उनको बाहरकी ताती वायु भी नहीं लगने देती, उनकी शय्या बन जाती है, अपने छातीके दूधसे ही उनका पालन-पोषण करती है, वैसे ही महाप्रलयके समय भगवान् सब जीवोंको अपनी ही सत्ता, ज्ञान और आनन्दमें लीन कर लेते हैं। उनके संस्कारशेष बीजके सिवाय अर्थात् उनके जीवत्वके सिवाय और कुछ भी शेष नहीं छोड़ते। जैसे माँके गर्भमें शिशु समग्र संपोषण और संवर्द्धन प्राप्त करता है, उसी प्रकार यह जीव ईश्वरके गर्भमें विश्राम, आराम, शान्ति और पुष्टि प्राप्त करता है। महाप्रलयके समय भी इस प्रकार जीवकी शय्या बनकर उसे आराम देना और प्रलय-कालानलके तापसे बचा लेना यह भगवान्‌की कृपाका ही एक स्वरूप है। यह जननीकृपा है और जीवके जीवनमें भी सर्वदा ही अनुगत रहती है। जब-जब जीवका पौधा मुरझाने लगता है तब-तब उसकी वृद्धि-समृद्धि एवं पुष्टि-तुष्टिके लिए वह जननी ही उज्जीवनी बनकर आती है। आप किसी भी जीवके जीवनमें इस माँका दर्शन कर सकते हैं। यह उपवास और

भोजन, शोषण और पोषण प्रक्षालन और स्नेहन—सभी प्रक्रियाओंसे जीवका हित करती रहती है। इसको पहचाननेमें देर-सबेर हो सकती है, परन्तु इसके क्रियान्वयमें कभी कोई रुकावट नहीं पड़ती।

५. प्रलयके समय जीव शयनमें होता है। विस्मृति और अज्ञानका गहरा पर्दा इसको चारों ओरसे आच्छादित करके रखता है। उसे कोई दुःख-चिन्ता नहीं है—यह तो ठीक है, परन्तु इस शयन-दशामें कुछ धर्म, अर्थ, भोग, मोक्ष भी तो नहीं है। कोई शिशु सोता ही रहे निद्रा-तन्द्रामें अलसाया हुआ निकम्मा पड़ा रहे—यह बात किसी भी वात्सल्यमयी जननीको कैसे रुचिकर हो सकती है? वह चाहती है कि हमारा बेटा उठे, भले-बुरेको पहचाने, कुछ करे, कुछ कमाये, अपने पौरुषसे कुछ भोगे। भला कौन ऐसी माँ होगी, जो यह न चाहे। वही माँ अपने बालकको जगाती है। एक-एकको अलग-अलग जगाती है। एक साथ जगाती है। सबके आलस्य भगाती है। स्नान-मार्जन कराती है। हाँ, वही माँ जो जननी थी, प्रबोधनी हो गयी। वह प्रबोधनी कौन है? वह प्रभुकी कृपा है। यदि यह जीव प्रलयकी प्रगाढ़ निद्रामें सोता ही रहता तो क्या इसको किसी पुरुषार्थकी प्राप्ति होती? सोते हुए जीवोंको जागरण-दशामें लाना यह प्रबोधनी कृपा है।

६. श्रीमद्भागवतमें, सोते हुए ग्वाल-बालोंको जगानेके लिए स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् शृङ्ग-ध्वनि करते हुए आते हैं—'प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा।' जागरणके पश्चात् श्रीकृष्णके साथ ही वे भव-वनमें प्रवेश करते हैं। अनेक रूप-प्रपञ्चका दर्शन होता है। यदि ईश्वर चैतन्य साथ न हो तो न प्रपञ्चका दर्शन हो और न उसकी क्रीडा हो, इसलिए यहाँ आकर कृपा ही प्रपञ्चनी हो जाती है,

अर्थात् अनेक प्रकारके दृश्योंका सर्जन-विसर्जन करने लगती है। जो कुछ कारणशरीरमें लुप्त, गुप्त या सुप्त था, उसको वह विस्तारके साथ फैलाती है। अन्तःकरण, बहिःकरण, विषय, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश, मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सभी स्थूल-सूक्ष्म विषयोंका विस्तार, प्रचार, प्रपञ्चनी कृपा ही करती है। अविद्या निद्रामें सुषुप्त जीवको जहाँ कुछ भी प्रतिभात नहीं होता था, वहाँ अब सब कुछ प्रतीत होने लगा। शिशुके नेत्र खुल गये, मन काम करने लगा। यह जो दृश्य, दर्शनकी सामान्य शक्ति है वह प्रबोधनी है और जो दृश्यकी अभिव्यक्ति है वह प्रपञ्चनी है।

७. अब कृपाका एक नया विलास प्रकाशमें आता है। बिना इस कृपाकी अभिव्यक्तिके कोई भी प्राणी अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलताको, सुपथ्य और कुपथ्यको नहीं जान सकता। वृक्ष अपनी वृद्धिके लिए कहाँसे मुड़े? चींटी शक्करके साथ कैसे जुड़े? पक्षी कौन-सा चारा खाये? पशु कौन-सी घास चरे? यह भोजन जीवनका साधन है और यह मरणका—यह कैसे जान पड़े? करना, न करना, खाना, न खाना, छिपना, प्रकट होना, बोलना, न बोलना—ये सब प्राणियोंको कैसे ज्ञात हो? सचमुच वही वात्सल्यमयी जननी कृपा-प्रशिक्षणी रूप धारण करके जीवनमें विशेष ज्ञानकी एक धारा प्रवाहित करती है। अग्निका स्पर्श दाहक है। माताका वक्षःस्थल वाहक है। पाँवसे चलना, हाथसे खाना, प्यास लगनेपर जल पीना, इष्ट-अनिष्टकी पहचान कराना—यह सब भगवान्‌की प्रशिक्षणी कृपा का विलास है।

८. इसी प्रशिक्षणसे जीवनमें प्रणयन अर्थात् निर्माणका अवतरण होता है। जीवनके प्रणयनका मूल प्रशिक्षण ही है। इसके बिना

जीव-जगत् सब अन्धे ही रहे। अन्तरमें बैठकर प्रवृत्ति और निवृत्तिके लिए उन्मुख कौन करता है? वह अन्तःप्रविष्ट शास्ताकी प्रशासन-शक्ति ही है। वह सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और भावोंका परस्पर विलक्षण विशेष-विशेष रूप, आकृति, गुण, धर्म, स्वभावकी रचनामें भिन्न-भिन्न प्रकारका उत्पादन, सम्भरण और संहरण क्यों करती है? वह किसीके पूर्व-संस्कारोंका अनुगमन अथवा नवीनीकरण ही क्यों करती है? विचारदृष्टिसे देखनेपर वह शक्ति किसी हेतु, निमित्त या प्रयोजनसे प्रेरित नहीं जान पड़ती। जब शक्ति अहैतुक ही कार्य करती है तो **प्रणयनी कृपा** के सिवाय उसके लिए दूसरा नाम नहीं हो सकता।

९. इसी प्रणयनके अनन्तर इष्ट-अनिष्टका भाव परिपक्व हो जाता है। तब इष्टकी प्राप्तिकी इच्छा होती है और अनिष्टकी परिजिहीर्षा। यह इच्छा ही **अभिलाषणी कृपा** का रूप है। जो अभिलाष देता है, वही प्राप्त भी कराता है और प्राप्तिके साधन भी देता है। धर्म, अर्थ, काम—कुछ पाना है? उसके लिए लौकिक वैदिक कर्म चाहिए। कर्मके करण-उपकरण चाहिए। कर्मका अधिकारी कर्ता चाहिए। उपयुक्त स्थान और समय चाहिए। सहायक और सामग्री चाहिए। फलकी प्राप्तिके साथ-साथ उसमें रुचि चाहिए। उसके भोगके योग्य शरीर चाहिए। निर्विघ्न निर्वाह चाहिए। विशेष ज्ञान चाहिए। यह सब लेकर कौन आता है? प्रभुकी **प्रापणी कृपा** के ही ये भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह है सर्वदा, सर्वत्र, सबपर; परन्तु पहचानता है कोई-कोई।

१०. अनुकूल अथवा प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति होनेपर दातापर दृष्टि जानी चाहिए, परन्तु कुछ ऐसी मोहमयी लीला चल रही है कि अनुकूलमें राग हो जाता है, प्रतिकूलमें द्वेष और दातापर दृष्टि नहीं

जाती। रागसे पक्षपात और द्वेषसे क्रूरताका जन्म होता है। रागमें स्वाद और द्वेषमें कटुता; परन्तु ऐसा क्यों होता है? ऐसी दशामें प्रभुकी कृपा कहाँ प्रसुप्त हो जाती है? गम्भीरतासे देखो तो वह कहीं जाती नहीं है। हमारी स्वतन्त्र विवेकशक्तिको जाग्रत् करती रहती है। क्या कल्पित गणित ठीक-ठीक सीख लेनेपर वास्तविक गणितका साधन नहीं बनता? बिना सुख-दुःखके झकोरे सहन किये किसके जीवनमें स्फूर्तिका उदय हुआ है? फिर भी हम मान लेते हैं कि राग-द्वेष विवेककी ओर नहीं, मूर्च्छा अथवा मोहकी ओर ढकेलते हैं। एक ऐसी मोहनी माया छा जाती है कि उससे देवता-दैत्य ही नहीं, शिव भी मोहित हो जाते हैं। यह मोहनी आत्माकी अक्षुण्ण प्रकाश-शक्ति-पर ही आधारित है। जो मोहनी देवता-दैत्य—दोनोंके लिए लोभनी है वही फलकी प्राप्ति और अप्राप्ति—दोनों ही दशामें क्षोभणी हो जाती है और परिणामतः देवासुर-संग्राम होता है। इस संग्राममें कृपा भक्तके प्रति उत्कर्षणी और अभक्तके प्रति अपकर्षणी होकर प्रकट होती है। यही दैत्यराज बलिके भी सर्वस्वात्मसमर्पण और भगवद्वशीकरणमें हेतु बनती है। प्रह्लाद इसको पहचानते हैं। बलिकी धर्मपत्नी भी। यह मोहनी कृपा किसीको जहाँ-का-तहाँ जड़ बना देती है और रोधनी संज्ञा धारण करती है। किसीके मनमें विरोध उत्पन्न करके विरोधनी बन जाती है और उसका स्मरणोद्दीप्त मन प्रभुके सम्मुख कर देती है। इस प्रक्रियामें जो लोग प्रभुके कृपा-वैभवको देखकर मुग्ध होने लगते हैं, उन्हें वह प्रभुके सम्मुख कर देती है और अनुरोधनी बन जाती है।

११. यह मोहनी किस-किस विलक्षण और विचक्षण रीतिसे विभिन्नलक्षण जीवोंको संसारकी विविध प्रवृत्तियोंमें लगाकर प्रवर्तनीका काम करती है और भिन्न-भिन्न योनियोंमें डालकर

परिवर्तनीका रूप धारण करती है। किसी-किसीको पूर्वावस्थामें लौटाकर अपनेको परावर्तनी बना लेती है। यह पृथक्-पृथक् निरूपण करना शक्य नहीं है। संसारमें जितनी क्रिया है, भाव है, संज्ञा है—सभी इस मोहनीके नवनवायमान अभिव्यञ्जनीके ही रूपान्तरण हैं। जो इनके बाह्य स्वांगके रंगमें ही अपने अन्तरङ्गको रँग लेता है वह चक्रवातमें तृणके समान उड़ता-पड़ता रहता है और जो इसके अन्तरङ्गमें विराजमान करुणा-वरुणालय प्रभुके तरङ्गायित रूपको देख लेता है, वह क्षण-क्षण उनका दर्शन करके आनन्दमग्न रहता है।

१२. प्रभुकी कृपाका एक रूप है—आकर्षणी। परन्तु वह प्रारम्भमें विकर्षणीका रूप ग्रहण करके आता है। विकर्षणी भी अपना सहज सौरभ तब प्रकट करती है जब वह तापनी होकर हृदयमें प्रपञ्च-संवेदनके प्रति तापनी बन चुकती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब ईश्वर-वियोगिनी वृत्ति प्रपञ्च-संयोगमें ताप और ज्वालाका अनुभव करने लगती है—संसारकी सुरभि वस्तुमें भी दुरभिसन्धिकी शंका होती है। रसमें भी विष घोला हुआ जान पड़ता है। सरूपतामें छिपी कुरूपता दीखने लगती है। सुकुमार मारका दूत लगने लगता है। मधुर स्वर सुख-विधुरताके कर्णभेदी ध्वनिसदृश प्रतीत होने लगते हैं और प्रिय-सम्बन्ध बन्धन लगने लगते हैं। तब यह तापनी संसारकी ओरसे विकर्षण करके प्रभुकी आकर्षण-धारामें डाल देती है। अब ऐसा लगने लगता है कि कोई मेरा प्रेमी है। वह मुझे अपनी ओर खींच रहा है बलात्। मेरा वास्तविक प्रियतम वही है। मेरा निवास-स्थान उसीके पास है। इतने दिनों तक मैंने घोर अन्धकारमें, पराये घरमें जीवन व्यतीत किया है। मैंने भ्रमवश सुखको दुःख माना है। मैं जहाँ हूँ, वहाँ

शान्ति नहीं है। प्रकाश नहीं है, सुख नहीं है। मुझे अपने प्रियतमके उस रसमय, मधुमय प्रदेशमें चलना चाहिए, जहाँ बस वही-वह विहार करता है।

१३. जब इस प्रकारके संकल्प उठने लगते हैं तब इनके प्रवाहमें वासनाके मल धुलने लगते हैं। कृपा **क्षालनी** होकर आ जाती है और धीरे-धीरे अन्तर्देश पवित्र होने लगता है। वह कृपा **द्रावणी** और **स्नेहनी** भी बनती है। प्रभुके लिए तीव्र व्याकुलताकी ज्वालासे वह अन्तःकरणको द्रुत करती है और उसमें परमानन्दमय प्रभुके लिए एक प्रकारकी स्निग्धता उत्पन्न करती है। इस क्षालन, द्रवण और स्नेहनकी प्रक्रियाके बिना हृदयमें रासायनिक प्रभाव उत्पन्न नहीं होता और उसमें भगवदाकार होनेकी योग्यता नहीं होती। वासनाएँ दूसरा आकार बना देती हैं। ममता कठोर बनाती है और अन्योन्मुखता रूक्ष करती है। इन तीनों दोषोंकी निवृत्तिके लिए कृपा उक्त तीनों रूप धारण करती है और क्षालित, द्रावित एवं स्निग्ध हृदयमें भगवान्‌के प्रासादिक रूपका अनुभव कराती है। यहीं उसका एक नाम **प्रसादनी** भी हो जाता है।

१४. इस अवस्थामें ईश्वरके जिस स्वरूपका अनुभव होता है वह अत्यन्त विविक्त एवं स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि वासनाओंके शान्त हो जाने पर भी अविद्याके संस्कार बने रहते हैं परन्तु हृदय शुद्ध होनेके कारण ईश्वरको सम्पूर्ण रूपसे अपना विषय बनानेके लिए एक दिव्य वृत्तिका उदय होता है। उसमें व्याकुलता नहीं है। दाह और ताप भी नहीं है, परन्तु एक सम्पूर्ण अनुभूतिके लिए आन्तरिक प्रयत्न होता रहता है। इस प्रयत्नको अन्वेषणी, विवेचनी अथवा **जिज्ञासनी** कृपाका नाम दिया जा सकता है। इसमें अपने अन्वेष्य

अथवा अनुसन्धेय वस्तुके अतिरिक्त किसी और विषयकी ओर चिन्तनकी धारा नहीं गिरती। परिणामतः **प्रकाशनी** कृपा अभिव्यक्त हो जाती है। उस समय अपने अन्तःकरणके ही सूक्ष्मतम आधार-प्रदेशमें भगवत्स्वरूपकी स्फूर्ति होने लगती है। वह स्वरूप न घटादिके समान प्रत्यक्ष होता है और न स्वर्गादिके समान परोक्ष। वस्तुतः वह अवेद्य अपरोक्ष ही होता है, परन्तु अन्वेषणीसे पृथक्, विवेचनीसे स्वरूप और जिज्ञासनीसे प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मके रूपमें अनुभव होता है। इस अनुभूतिको मेलनीकी संज्ञा दी जा सकती है; क्योंकि जिसका अनुसन्धान कर रहे थे वह अब मिल गया है। यह मेलनी ऐसी है कि फिर वियोजनी अथवा संयोजनी वृत्तिका संसर्ग नहीं होता; क्योंकि वियोग-संयोगकी कल्पनाके लिए कोई अवकाश नहीं रहता। कर्मके नष्ट होनेपर फलका नाश अथवा ह्रास होता है किन्तु प्रमाण-वृत्तिके रहने, न रहनेका प्रमेय वस्तुपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुके लिए स्मरणी-विस्मरणी भी अकिंचित्कर है। भक्ति-मार्गसे भी मेलनी केवल नित्य सम्बन्धकी अभिव्यंजनी होती है, उत्पादनी नहीं।

१५. इसमें सन्देह नहीं कि यह सर्वविध बन्धनसे मुक्त कर देती है, चाहे इसका रूप कुछ भी क्यों न हो? इसलिए मेलनीका ही एक नाम मोचनी हो जाता है। यह अनात्मासे, अनिष्टसे, द्वैतभ्रमसे सर्वथा मुक्त करनेमें समर्थ है। इसके बाद तीन रूप प्रकट होते हैं—**शमनी**में सम्पूर्ण वृत्तियोंकी उपशान्ति होकर प्रपञ्चका अभाव हो जाता है। **स्वच्छन्दी**में वृत्तियोंकी प्रतीतिमात्र उपस्थिति-अनुपस्थितिका कोई महत्त्व नहीं रहता और **ह्लादनी** रसिक, रस्य और रसनको परमानन्द, एकरस कर देती है। तब भूमि, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, समीर, आकाश, मन,

भोक्ता, भोग्य, कर्त्ता, कर्म—कहाँ तक गिनायें—सब कुछ भगवन्मय हो जाता है। धाम, नाम, रूप, लीला, गुण, स्वभाव, दुर्जन, सज्जन—सब कुछ रस-स्वरूप परमात्माकी निर्मायि लीलामात्र होते हैं। यह ह्लादिनी कभी **प्रसादनी**, कभी **अभिसारणी** और कभी **माननी** होकर आती है। सुखकी व्यञ्जनाके लिए मनाती है। मिलने के लिए नदीकी तरह बहती है। आनन्दधारामें हिम-शिलाके समान मान करके बैठ जाती है। यह चाहे जो रूप धारण करे, रहती है—**भावनी, रञ्जनी, तर्पणी** और **नन्दनी**। चाहे आँख-भौं चढ़ी हो, चाहे प्रसन्न; वह प्रियतमकी प्रसन्नताके लिए अपनी प्रियताकी अभिव्यक्ति ही होती है। क्योंकि अब आनन्दरसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसीसे यह कभी मिलकर **मोदनी** दिखाती है। तो कभी मादनी दीखती है संयोग और वियोग घुल-मिलकर एक हो चुके होते हैं और उनकी आकृति-विशेष होनेपर भी तत्त्वविशेष नहीं होता। वह रस-विशेषका उल्लास है, प्रेमका प्रकाश है, प्रीतिमहार्णवकी तरङ्ग है, कभी दो है, कभी एक है। वहाँ 'कभी' है परन्तु काल नहीं। 'वहाँ' है परन्तु देश नहीं। दो है परन्तु द्वित्व नहीं। यह सरूपणी कृपा अभेद स्वरूपा ही है।

१६. इस कृपाका स्वरूप देशकाल-वस्तु-व्यक्तिसे परे भी है और उनमें अनुस्यूत भी है। वस्तुतः कृपाके अतिरिक्त और कोई महत्ता, सत्ता नहीं है। वह अरूपिणी रहकर सर्वरूपमें प्रकाशित होती है। कृपा और कृपालु दो तत्त्व नहीं हैं। जब, जहाँ, जो कृपालुका स्वरूप है। तब वहाँ, वही कृपाका स्वरूप है। आत्मा-परमात्माका भेद और अभेद—दोनों ही कृपा हैं। जब सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च अन्ध तमसाच्छन्न होता है, तब क्या हमारे नेत्रोंके भीतरसे सूर्यज्योति बेरोक-टोक झाँकती हुई नहीं ज्ञात होती? अन्धकारके पीछे क्या

सूर्यमण्डल जगमगाता हुआ नहीं होता ? अन्धकार, दु:ख, मृत्युके आगे-पीछे सर्वत्र वही मंगलमयज्योति झिलमिला रही है। इस अरूपिणी कृपाको केवल पहचानना पड़ता है, पाना नहीं। तत्त्व-ज्ञानका अर्थ भी इसे पहचानना ही है। इसको चाहे ब्रह्म कह लो या आत्मा, सगुण-निर्गुणका भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं।

१७. रूपिणी कृपा तब समझमें आती है जब वह हमारे इष्टके स्मरणमें हेतु बनती है, जैसे सत्संग मिले, भगवद्धाम मिले, कुछ काल तक भगवान्की आराधना मिले। भक्तकी दृष्टिसे वह रूपिणी कृपा होगी; क्योंकि वह साधनका रूप धारण करके आयी है। यह कृपा अपने-अपने पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्तिमें अनुकूलता उत्पन्न करनेपर पहचानी जाती है। जिज्ञासुको सन्त मिले, अर्थीको सेठ मिले, कामीको कामिनी मिले और धर्मात्माको सत्पात्र, तो उसे वह भगवान्की रूपिणी कृपा समझेगा। परन्तु यह दृष्टि पुरुषार्थकी उपाधिसे है। इसमें कृपाकी सच्ची पहचान नहीं है। सच्ची कृपामें अपनी इच्छा या आवश्यकतापर दृष्टि नहीं जाती। उसमें तो प्रत्येक परिस्थितिमें ही उसका समीक्षण होता है, प्रतीक्षण नहीं, प्रार्थना भी नहीं। जो है उसके लिए क्या प्रतीक्षा और क्या प्रार्थना ? उसकी अनेकरूपता वैसे ही है, जैसी रास-लीलाके समय श्रीकृष्णकी अनेकरूपता या ब्रह्माके प्रति अनन्त रूपका दर्शन। कृपाकी पहचान हो जानेपर उसमें स्मरण, प्रतिष्ठा और निष्ठाकी भी आवश्यकता नहीं रहती। जो कुछ है, नहीं है, भासता है, नहीं भासता, प्रिय है, अप्रिय है, भेद है, अभेद है, कृपाका ही विलास है।

●

भारतीय तत्त्वदृष्टि

भारतीय तत्त्वदृष्टि खास भौगोलिक सीमामें बँधी हुई नहीं है; वह तत्त्व है, सत्य है, अनन्त ब्रह्माण्डके लिए है। हमारे भारतीय महर्षियोंने इस बातको बड़ी गम्भीरताके साथ पैनी नजरसे समझा है। कई लोग ऐसा मानते हैं कि परिस्थितिके अनुसार दृष्टि बनती है, जैसे अमीरोंकी प्रबलता होती है तब अमीरोंकी दृष्टिसे और गरीबोंकी प्रबलता होती है तब गरीबोंकी दृष्टिसे दर्शन बनते हैं।

परिस्थितिके प्रभावसे मुक्त कोई चित्त नहीं हो सकता। जिन लोगोंने दर्शनशास्त्रका निरूपण किया है या खोज की है वे सब-के-सब परिस्थितिसे प्रभावित हैं। मार्क्सदर्शनके अनुयायीका सब दर्शनोंके प्रति यह दृष्टिकोण होता है कि यह अमुक स्वार्थसे प्रेरित है। अमीरोंने चाहा कि गरीब वशमें रहें। उन्होंने ब्राह्मण पण्डितोंको धन देकर वशमें किया और उनसे ऐसा लिखवाया कि लोगोंके दिलमें धर्मका विष भर जाय और लोग हमेशाके लिए गुलाम हो जायँ। लोगोंकी बुद्धिमें विष भरना दर्शनकी उत्पत्तिका हेतु है।

भारतीय दर्शन कर्मसे पृथक् है। औपनिषद दर्शन यह कहता है कि जबतक चित्त शुद्ध नहीं है, तबतक तत्त्वदृष्टि अथवा सच्ची दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। सामान्यरूपसे कोई भी व्यक्ति मार्क्स-दर्शनका अनुशीलन या अनुभव पुस्तकालयमें बैठकर कर सकता है। औपनिषद दर्शनमें हमारे दार्शनिकोंका यह दृढ़ निश्चय है कि चित्त शुद्ध न हो तो तत्त्वबोध नहीं हो सकता, क्योंकि चित्तमें संस्कार होते हैं। सबके चित्तमें संस्कार रहते हैं। हमारे आचार्योंने ऐसा अध्ययन किया है कि अनादि परम्परासे, प्रवाहरूपसे सृष्टिमें नित्य ही प्रत्येक चित्तमें कोई-न-कोई संस्कार हावी रहता है, उसका प्रभाव रहता है। मनुष्यको बचपनसे, जन्म-जन्मसे या संगके रंगसे जो-जो संस्कार मिलते रहते हैं उनसे आक्रान्त बुद्धि द्वारा वह तत्त्व समझनेकी चेष्टा करेगा तो उसे तत्त्व सच्चा न दिखेगा, संस्कारके रंगमें रँगा हुआ दीखेगा, जैसे हम हरे काँचवाली मोटरमें बैठते हैं तो बाहरका सब—मकान, सड़क इत्यादि हरा-हरा दीखता है, वैसे ही संस्काराक्रान्त बुद्धिसे तत्त्व पृथक्-पृथक् दीखता है। इसलिए भारतीय तत्त्वदृष्टिमें पहला जोर दिया गया कि जो शुद्ध अन्तःकरण है वही तत्त्वज्ञानका अधिकारी है, अन्य नहीं। इस दृष्टिसे हम विश्वदर्शनोंके साथ भारतीय दर्शनकी तुलना करें।

दार्शनिक तत्त्वज्ञानके लिए रागद्वेष-विनिर्मुक्त दृष्टि चाहिए। हनुमान्‌जीकी आँखमें क्रोधकी लाली आगयी तो अशोकवनके श्वेत-कमल भी उन्हें रक्तकमल दीखने लग गये। जब हमारे चित्तमें मजहबी पक्षपात, भौगोलिक पक्षपात रहता है; तब हम सत्यको, तत्त्वको नहीं समझ सकते। इसलिए अन्तःकरण शुद्ध बनाना चाहिए। दूसरे जब हम तत्त्वमें किसी आकारका आरोप करते हैं कि सोने या

माटीमें पुरुष, स्त्री, गाय या घोड़ा बनाया जाय तब आकारके आरोपमें हमारी रुचि काम करती है और आकारके निषेधमें हमारी अरुचि काम करती है। परन्तु आकार और आकारके अभाव दोनोंके आरोपसे शून्य जिसमें कालकी कोई कला नहीं है, वह शुद्ध तत्त्व है। जैसे संस्कृति दो हजार वर्ष पूर्वकी, अबकी या बादमें आने-वाली संस्कृतिमें कालका प्रभाव है। इसीप्रकार राष्ट्रीय संस्कृतिपर भूगोलका प्रभाव रहता है जैसे कि भारतीय संस्कृति, योरोपीय संस्कृति, अमेरिकन संस्कृति। मजहबी संस्कृतिपर आचार्यका प्रभाव रहता है। जब आचार्य द्वारा प्रचारित मतको ही सबसे श्रेष्ठ बताया जाता है तब वह साम्प्रदायिक संस्कृति कही जाती है। जहाँ आचार्यको, राष्ट्रको, कालको हम प्रमुखता देते हैं वहाँ हम शुद्ध तत्त्वका अनुसन्धान करते नहीं होते, अपनी दृष्टिमें एक प्रकारकी संकीर्णता लाकर, एक सीमामें उसे बाँधकर तत्त्वका दर्शन करते हुए होते हैं। औपनिषद दर्शनकी यह विशेषता है कि वह सत्यको कालकलामें नहीं बाँधती। उसका यह कहना नहीं है कि महावीर स्वामी द्वारा, गौतमबुद्ध द्वारा, मोहम्मद या ईसा द्वारा यह स्थापित या प्रचारित तत्त्वदृष्टि है, इसलिए यह सच्ची है। व्यक्तिकी प्रधानतासे तत्त्वका दर्शन करना यह औपनिषद दर्शनका काम नहीं है, अपितु व्यक्तिका और व्यक्तिके अभाव दोनोंका निषेध करके काल-कलासे, देशकलासे और विषयकलासे अछूता जो तत्त्व है उसका दर्शन प्राप्त करनेके लिए मनुष्यके हृदयमें जिस शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिका होना जरूरी है; वह बताना औपनिषद दर्शनका काम है। इसमें शुद्ध बुद्धिका आग्रह है, संस्कृत बुद्धिका नहीं। शुद्ध बुद्धि और संस्कृत बुद्धिमें अन्तर है। बाह्य देश, काल, वस्तु-संस्कारग्राही अन्तः-करण शुद्ध नहीं होता। शुद्ध प्रकाशकसे—अग्राही चेतन प्रकाशसे तादात्म्यापन्न अन्तःकरण ही शुद्ध होता है।

'हम वेदको अपौरुषेय कहते हैं। अपौरुषेय कहनेका भी यही अभिप्राय है कि 'शंकराचार्यने इस तत्त्वको देखा; इसलिए यह तत्त्व श्रेष्ठ है' ऐसा हम नहीं कहते। तत्त्वानुभूतिकी अपेक्षासे पुरुषमें श्रेष्ठता आती है, पुरुषकी अपेक्षासे तत्त्वानुभूतिमें श्रेष्ठता नहीं आती। हम कहते हैं कि इस तत्त्वको भगवान् श्रीशङ्करने देखा इसलिए वे श्रेष्ठ हैं।'

जितने पौराणिक धर्म हैं—बाइबिल, कुरान, भिन्न-भिन्न मजहब, वे एक व्यक्तिमें शुद्धताका आरोप करके चलते हैं। वह व्यक्ति जो कि कालके एक अंशमें पैदा हुआ है, जो कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके एक अंशमें पैदा हुआ है, जिसका सम्पूर्ण विश्वविराट्-सृष्टिमें कोई वजन या तौल नहीं है, जिसकी सर्वज्ञतामें, सर्वानन्दमें, सर्वसत्तामें, समष्टिज्ञानमें कोई कीमत नहीं है, उस व्यक्तिके महत्त्वको स्थापित करके जब हम वस्तुको, तत्त्वज्ञानको प्रभावित करने लगते हैं तब उसमें उस व्यक्तिकी प्रधानता हो जाती है, वह वस्तु-तत्त्वका ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वदृष्टिकी दूसरी विशेषता यह है कि वह किसी व्यक्ति, मजहब या भूमिकी श्रेष्ठता नहीं मानता। तत्त्वज्ञान इसलिए श्रेष्ठ नहीं है कि वह भारतमें पैदा हुआ, भारत इसलिए श्रेष्ठ है कि उसमें वह तत्त्वज्ञान प्रकट हुआ। शंकराचार्य इसलिए श्रेष्ठ हैं कि वे इस तत्त्वका अनुभव कर सके। तत्त्वज्ञान इसलिए श्रेष्ठ है कि वह अपौरुषेय है। उसमें पुरुषबुद्धिसे प्रभावित 'यह मेरा-यह मेरा'वाली बात नहीं आती; इसलिए श्रेष्ठ माना जाता है।

इस प्रकार वह परिस्थिति-जन्य नहीं है, शुद्ध अन्तःकरण द्वारा अनुभवमें आता है। वह किसी कालसे, देशसे, आचार्यसे, मजहबसे

सम्बद्ध होकर अपनी श्रेष्ठताकी अभिव्यक्ति नहीं करता अपितु उनको यह श्रेष्ठ बनाता है। इसकी तीसरी विशेषता बड़ी विलक्षण है। हम ईश्वरके अनुसन्धानकी बात करते हैं और उपादान अर्थात् सृष्टिके मसालेपर विचार करते हैं। कुम्हार घड़ेका उपादान कारण नहीं है, निमित्त कारण है। दूसरे मजहब घड़े बनानेवालेका अनुसन्धान करते हैं। औपनिषद दर्शनमें मिट्टीका अनुसन्धान किया जाता है कि मिट्टी क्या चीज है?

चार्वाक कहता है कि सृष्टिका बनानेवाला कोई नहीं है, कुंभ-कारकी अर्थात् चेतनकी कुछ आवश्यकता भी नहीं है, जड़ तत्त्व केवल उपादान ही उपादान है। दूसरी तरफसे देखें हमारे जितने औपनिषद दर्शन हैं उनमें कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जो उपादानके सम्बन्धमें बाकी रह जाय। दार्शनिक वह है जो केवल वर्तमान दर्शनको ही नहीं देखता, भूत-भविष्यके दर्शनोंको भी ले लेता है। जिसके गणितमें भूत-भविष्य नहीं आते वह सच्चा दार्शनिक नहीं है। जो विविध मत प्रचलित हैं उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

१. एक मत कहता है कि सत्ता पहले रहती है, उससे चेतनकी उत्पत्ति होती है।

२. दूसरा मत बतलाता है कि चेतन पहले रहता है, उससे सत्ताकी उत्पत्ति होती है।

३. तीसरा मत कहता है कि सत्ता और चेतनता ये दोनों अनादि और अनन्त हैं।

४. चौथे मतका कहना है कि सत्ता और चेतनता दोनों ही वास्तविक हैं, तत्त्व नहीं हैं।

५. पाँचवें मतकी मान्यता है कि सत्ता और चेतनता दोनों एक ही हैं, अलग-अलग नहीं हैं। 'भूत्वा भाति,' 'भात्वा भवति' इस प्रकारके भिन्न-भिन्न विभाग करते हैं। इस प्रकार इतने भिन्न-भिन्न विभाग हो जायेंगे कि आगे उनकी गणना नहीं हो सकती।

दार्शनिक सम्पूर्ण विभागोंका वर्गीकरण करके निश्चय करता है। वह किसी विभागको छोड़ नहीं देता या कोई विभाग बाकी नहीं रह जाता। एक अद्वैत है। दूसरा द्वैत है। तीसरा द्वैत-अद्वैत दोनो है। चौथा दोनो नहीं है; इस भाँति विविध पक्ष हैं।

१. रामानुजाचार्यका मत द्वैतविशिष्ट अद्वैत है।

२. मध्वाचार्यका मत है कि केवल द्वैत ही है, अद्वैत नहीं है।

३. वल्लभाचार्यका मत अद्वैतविशिष्ट द्वैतका है।

४. निम्बार्काचार्यका मत द्वैताद्वैतका है।

५. शंकराचार्यके मतमें केवल अद्वैत ही है, द्वैत नहीं है।

६. ये सब-के-सब भेद अद्वय-विज्ञानके ही रूप हैं। अतएव वस्तुतः शून्य हैं यह बुद्ध बताते हैं।

द्वैतावादियोंमें जैन, सांख्य, पूर्वमीमांसा सबके सब आ जाते हैं। उनमें भी कोई आस्तिक हैं तो कोई नास्तिक हैं, इस प्रकार अनेक भेद हो जाते हैं। ये सब गणितके अनुसार गिने हुए भेद होते हैं। मान लो कि एक सभा जुड़े और सब मतवादी सभामें आकर अपने-अपने स्थानपर बैठ जायँ तो कहना होगा कि उनके लिए अमुक स्थान बना हुआ है। वे बुद्धिके अमुक स्तरसे

देखते हैं; तब यह बात ऐसे मालूम होती है। तात्पर्य है कि जैसे फोटो लेते समय किस कोणसे फोटो लिया गया है, यह अद्वैतवादी ठीक-ठीक बता सकता है। परन्तु द्वैतवादीकी सभामें अद्वैतवादी आये तो उसके लिए कोई कुर्सी या जगह नहीं है कि उसे बुद्धिके किसी कोण अर्थात् स्तरपर बैठा दिया जाय, क्योंकि अद्वैत दर्शन बुद्धिके स्तरमें प्रतिष्ठित नहीं है; बल्कि बुद्धिके प्रकाशक रूपमें, बुद्धिके अधिष्ठान-रूपमें यह प्रतिष्ठित है। इसीमें बुद्धि फुरती है, इसीमें बुद्धि रहती है और इसीमें बुद्धि मिट जाती है।

ब्रह्म अर्थात् प्रज्ञाशक्ति और क्षत्र अर्थात् प्राणशक्ति। क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति ये दोनों जिसमें भोग्य हैं। प्रज्ञा-प्राण दोनोंकी मृत्यु—अभाव चटनीका काम देते हैं=माने मृत्यु ही जहाँ चटनी है। इतना ही नहीं कि दोनों भोग्य हैं अर्थात् मृत्यु ही नहीं है। जैसे ब्रह्म नहीं है, वैसे क्षत्र नहीं हैं, अभाव भी नहीं है; जो भावाभाव दोनोंका साक्षी है, अधिष्ठान है; जो कालातीत है; कालातीत ही नहीं जिसमें कालका झूठा अध्यारोप किया जाता है; जिसमें विषय और वृत्तियोंका झूठा अध्यारोप किया जाता है; उस अपरिच्छिन्न तत्त्वका दर्शन एक विलक्षण दर्शन है।

यह सोचना कि 'यह दर्शन समय-समयपर पैदा होता और नष्ट होता रहता है।' केवल राजनीतिक या सामाजिक दर्शनके विषयमें सत्य है। अर्थदर्शनका उदय और विलय होता रहता है कि कब कैसे धन कमायें और कैसे उसे खर्च करें? केवल धन कमानेकी विद्याका नाम अर्थशास्त्र नहीं है, विनिमय, दान, और धनके सदुपयोगका नाम भी अर्थदर्शन है। तात्कालिक दृष्टियाँ अनेक होती हैं, शाश्वत दृष्टि एक होती है। काम और भोग-दर्शनमें भी परिवर्तन होता

रहता है। इसी प्रकार केवल कर्म-सम्बन्धी दर्शन है। समाजमें कौन-सा कर्म उपयोगी है और कौन-सा कर्म उपयोगी नहीं है। उसमें भी शाश्वत दृष्टि एक ही है। इसी प्रकार राजनीतिमें पार्टी बढ़ानेके लिए दर्शन होते हैं। अमीर-अमीर मिलकर एक पार्टी बनाते हैं तो गरीब-गरीब मिलकर एक पार्टी बनाते हैं किन्तु स्वार्थी दृष्टिसे जो दर्शन निर्माण होता है; उसका नाम दर्शन नहीं है। दर्शन उसको कहते हैं जो मनुष्यजातिके लिए वरदान बनकर आया हो कि वह सम्पूर्ण भेदभावोंको, वैमनस्यको-संघर्षको हमेशाके लिए काट सके।

संसारमें जितनी वस्तुएँ होती हैं; उनमें वृद्धि और ह्रास होते ही रहते हैं, श्रेष्ठ-कनिष्ठका भेद बना रहता है। धर्म, अर्थ, कर्म, भोग, राजनीति, समाज आदि क्षेत्रोंके सम्बन्धमें ठीक-ठीक इनका क्रम बदलता रहता है। एक तत्त्वदृष्टि ऐसी होती है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें एक निर्विशेष तत्त्व होता है। तत्त्वको निर्विशेष बतानेका अर्थ ही यह हुआ कि ब्रह्माण्डोंमें विशेषता तो हो सकती है। जैसे सौरमण्डलकी एक विशेषता है तो ध्रुव-मण्डलमें दूसरी विशेषता है, चन्द्रमण्डलमें या शुक्रमण्डलमें अपनी-अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हो सकती हैं, किन्तु इनमें भेद होनेपर भी जो निर्विशेष वस्तु है; वह एक है। उसपर दृष्टि रखनेसे ब्रह्माण्डोंमें न युद्ध होगा न वैमनस्य होगा।

इस तत्त्वज्ञानको दृष्टिमें रखें तो कभी द्वन्द्वका भय नहीं है; चाहे सृष्टिका कितना विस्तार हो। आजकल लोगोंकी दृष्टि इतिहासको अधिक छूती है। ब्रह्माण्डके इतिहासको तो वैज्ञानिकोंपर छोड़ा गया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोणको समाजके और राजनीतिके नेता अधिक अपनाते हैं। इतिहासमें हम देखते हैं कि कितने राज्यों-

का उत्थान-पतन होता है और कितनी संस्कृतियाँ आती-जाती रहती हैं।

जिस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति विशेष-विशेष स्थिति है; वैसे मनुष्यके द्वारा होनेवाली योजनाकी भी विशेष-विशेष स्थिति है। योजना कार्यान्वित होनेकी स्थिति जाग्रत् है, योजना बन रही हो, तब स्वप्नकी स्थिति है और योजनाके बीज मौजूद हों तब सुषुप्ति है। इस प्रकार तीनों स्थितियोंमें योजना है। वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनोंमें एक निर्विशेष तत्त्व सत्य है। जो विशेषताके पीछे बैठी हुई वस्तु है; वह वस्तु दूसरी नहीं है। वह अपना आपा ही है; क्योंकि अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

यह जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण है, जिसमें सृष्टिका उत्थान और पतन होता रहता है उसमें जो एकरस रहनेवाला तत्त्व है, उसपर दृष्टि रहे; तो भले भाषा बदल जाय, मजहब और जाति बदल जाय, जीवन्मुक्तके चित्तपर इन परिवर्तनोंका प्रभाव नहीं पड़ता। जीवन्मुक्तकी विशेषता ही यह है कि उसका चित्त भाषा, मजहब, जाति तीनोंसे प्रभावित नहीं होता। ये तीनों तो समय-समयपर बदलते ही रहते हैं। लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासनासे पृथक् होना ही जीवन्मुक्ति है। यह जीवन्मुक्ति तत्त्वदृष्टिसे ही आती है।

अपने-अपने पक्षकी पुष्टिके लिए लोग तरह-तरहकी बातें करते हैं। चार्वाकके मतमें केवल चार भूत सृष्टिके उपादान हैं। परमाणुवादी कहता है, सृष्टिका उपादान केवल परमाणु ही है। प्रकृतिवादी

कहता है, सृष्टिका उपादान केवल प्रकृति ही है। विज्ञानवादी कहता है, सृष्टिका उपादान केवल विज्ञान ही है। इस प्रकार विचार करते-करते जब हम अन्तमें संपूर्ण आकारोंको छोड़ देते हैं; तब चेतन और सत्‌को द्रष्टा और उपादानको पृथक् करनेवाला कोई तत्त्व जगत्‌के मूलमें नहीं मिलता। जब उसको देखते हैं कि वह देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं होता है; तब वही सम्पूर्ण जगत्‌का उपादान चेतन द्रष्टा है और दूसरा है ही नहीं। यह बात अनुभवमें प्रत्यक्ष आ जाती है। इस प्रकार चाहे विश्व-ब्रह्माण्ड, देशकालका विस्तार कितना भी हो, सबमें केवल परमार्थसत्ता, तत्त्वसत्ता ही समन्वित है। अन्ततः यह सिद्ध है कि सब भेद-विभेदोंका समन्वय करनेवाला वही है।

हम व्यवहारमें उतरकर जब बोलते हैं तब यह कहते हैं कि हमारी भारतीय तत्त्वदृष्टिकी यह विशेषता है कि वह व्यवहारमें अनेक रूप होनेपर भी मूलतः एक ही है। अनेक साधनों द्वारा एक वस्तुकी उपलब्धि करना यह ज्ञानदृष्टि कैसे है और एक वस्तु अनेक रूप धारण करती है और अनेक रूपोंमें उपयोगी बनती है, यह विज्ञानदृष्टि कैसे है? एकमें-से अनेक कैसे होता है उसकी उपपत्ति निकालना विज्ञान है। सम्पूर्ण अनेक एकमें जाकर किस प्रकार समन्वित होते हैं यह तत्त्वज्ञान है। 'एकका अनेकमें अनुगत होना' यह भी तत्त्वके व्यवहार्य रूपको लेकर कहा जाता है। वस्तुतः यह व्यवहार भी अन्तमें यही बताता है कि वह न किसीसे व्यावृत्त है न किसीमें अनुगत। वार्तिककार-ने कहा—

अव्यावृत्तानुगतं निःसामान्यविशेषतः।

यह न कहना कि ब्रह्म सबमें भरा है या सबसे जुदा है। क्योंकि तदतिरिक्त है ही नहीं।

सब वेदान्ती तो यही कहते हैं कि 'ब्रह्म सबसे जुदा है!' तो यह उनके ब्रह्म खोजनेकी एक शैली है। बड़े-बड़े महात्मा कहते हैं कि 'ब्रह्म सबमें भरा है!' सब लोग अपने अन्तःकरणके राग-द्वेषको निवृत्त करें; इसलिए ऐसा कहते हैं कि 'सबमें ब्रह्म ही पूर्ण है।' ब्रह्मकी खोजके लिए व्यावृत्त ब्रह्मका अनुसन्धान और सम्पूर्ण राग-द्वेषरहित स्थिति उत्पन्न हो, उसके लिए 'सबमें ब्रह्मका अनुसन्धान' यह प्रयोजनके अनुसार तत्त्वदर्शन है।

आजकल लोग प्रयोजन-प्रधान हो गये हैं। पहले सोचते हैं—'क्या लाभ है? 'तुलसीका पत्ता खानेमें क्या लाभ है? तुलसीका पत्ताखानेसे बुखार नहीं आयेगा।' इन प्रयोजनवादियोंके लिए भौतिक सृष्टि ही सब कुछ है, आध्यात्मिक सृष्टि है ही नहीं। यह कितनी अधूरी दृष्टि हुई? अब एकने कहा तुलसीका पत्ता खानेसे शरीर चाहे मरे-जरे, हमारी आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिए तो यह आध्यात्मिक दृष्टि भी अधूरी है, पार्टीबन्दी है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और और आधिदैविक तीनों साधनाके क्षेत्रमें केवल पार्टी हैं।

कोई कहते हैं सबका सब आध्यात्मिक है, आधिभौतिक कुछ नहीं है; तो दूसरे कहते हैं तत्त्वज्ञान कुछ नहीं है, व्यवहार कुछ नहीं है, आओ हमारे देवताकी पूजामें लग जाओ और चौबीसों घण्टे पूजा-पत्री ही करो। यह क्या है? **अन्धन्तमः प्रविशन्ति**—यजुर्वेद-संहिता।

जिसके लिए आधिभौतिक साध्य है और आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सहायक हैं उसको आधिभौतिकमें राग होनेके कारण ऐसा हुआ। कोई कहे कि 'ज्ञान ही सब कुछ है; आओ, हम भीतर बैठें। आधिभौतिक कुछ नहीं है और देवताकी पूजा भी कुछ नहीं है' तो यह भी पार्टी है। एक वैराग्य-पार्टी है तो दूसरी राग-पार्टी है। जहाँ भी केवल देवता, केवल अधिभूत या केवल अध्यात्मको महत्त्व दिया जाता है वहाँ पूर्णता नहीं है, ये तीनों अपूर्ण दृष्टियाँ हैं। दृष्टिमें पूर्णता तब आती है जब तीनोंमें वही एक देखा जाय। दीखनेवाले फूलमें, देखनेवाली आँखमें और सूर्यमें एक ही रोशनी है। अध्यात्म आँख, अधिभूत फूल और अधिदैव सूर्य तीनोंकी एकता अनिवार्य है। यदि सामने फूल नहीं है तो आँख और सूर्यके रहते भी वह नहीं दीखेगा। किन्तु उसके न दीखनेके कारण आँख फोड़नेकी जरूरत नहीं है। तीनोंपर दृष्टि रखना पूर्ण दृष्टिमें आवश्यक है। यह दृष्टि हमें तत्त्वज्ञानसे मिल सकती है। हिमालयके ऊपरी भागमें जो तत्त्व है वही बम्बईके कारखानेमें है। 'आँख बन्द हो तो ब्रह्म दीखे और आँख खुले तो ब्रह्म भाग जाय' ऐसा तत्त्वज्ञानमें नहीं है। उसमें तो आँख खुली हो चाहे बन्द हो, सर्वत्र ब्रह्म दीखता है।

यदिहास्ति तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।—कठोप०

जो यहाँ है वही वहाँ है, वहाँ है वही यहाँ है। यहाँ-वहाँका अन्तर मीलों, वर्षों या वस्तुकी स्थूलतामें नहीं बाँटा जाता। यह तो आँखकी अपेक्षासे स्थूल-सूक्ष्मका भेद बनता है। हम अनुभव करते हैं कि हमारी आँख अमुक हदतक देख सकती है और उसके परे नहीं देख सकती। इसमें स्थूलता और सूक्ष्मता कल्पना है। ऐसे

ही काल और देश कल्पना है। जिसको हम परोक्ष परमात्मा कहते हैं वह इसी रूपमें इस सृष्टिमें मौजूद है और जिसको हम सृष्टि देख रहे हैं वह वही परमात्मा है। दोनों दो स्थानोंमें नहीं हैं। स्वर्गमें परमात्मा है और धरतीपर हम रहते हैं ऐसा भेद हमारे और परमात्माके बीचमें नहीं है। परमात्मा वर्षों पहले तो था किन्तु अब नहीं है ऐसा भी नहीं। कलेजेमें तो परमात्मा है और आँखोंके सामने नहीं है ऐसा भी नहीं है। आँखोंके बाहर या भीतर है ऐसा भी नहीं। पहले था, अब नहीं, अब है, पहले न था यह भेद-विभेद हम परमात्माको न जानकर करते हैं। जो यहाँ है, वही वहाँ है—**यदमुत्र तदन्विह।**

इसका तात्पर्य है कि हम परमात्माको पहचानते नहीं। इसी रूपमें, इसी हृदयमें होनेपर भी हम उसे न पहचानकर भेद करते हैं कि 'परमात्मा यह है, यह नहीं है' इसी कारण रागद्वेष, वैमनस्य, संघर्ष आते हैं, बड़े-बड़े युद्ध होते हैं। वे लोग समझते हैं कि यह जो वर्तमान परिस्थिति है वह परमात्मपरिरूप नहीं है और आगामी जो परिस्थति है वह परमात्मरूप है। 'आगे आयेगा सो ठीक; अब है वह खराब' या 'आगे आयेगा सो खराब और अब है सो ठीक'—इसी मनोभावनासे भेद-विभेद करके द्वन्द्वकी सृष्टि किया करते हैं। युद्ध, संघर्ष, वैमनस्यको मिटानेका सामर्थ्य यदि किसीमें है तो इसी तत्त्व-दृष्टिमें है।

इस तत्त्वदृष्टिको न समझनेके कारण लोग धर्मका तत्त्व भी नहीं समझते। जब तत्त्वतः सब एक हो जाते हैं तो धर्म-अधर्मके भेद कल्पित हो जाते हैं। तब वैधानिक रूपसे धर्म-अधर्मका निर्णय होता है। विधि हो, वह धर्म होगा और अवैध हो वह

अधर्म होगा। मनुष्य जब वैध-अवैधका रहस्य न समझेगा तो राग-द्वेषकी सृष्टि कर बैठेगा। असली तत्त्वको नहीं समझेगा तो वह धर्मका स्वरूप नहीं समझेगा। यदि कोई वस्तुके गुणमें-से धर्म निकालेगा और दोषमें-से अधर्म निकालेगा तो राग-द्वेषका शिकार होगा।

जब इस तत्त्वदृष्टिको हम अपने साथ रखते हैं तब तो हम कहते हैं—'भाई, इस देशमें, इस कालमें, इन लोगोंके लिए यह धर्म है और वह अधर्म है।' विभागके द्वारा धर्म-अधर्म बनता है। तब पूर्वमीमांसामें जो धर्मके लक्षण बताये हैं वे समझमें आजायँगे। एक ही क्रिया विहित होनेपर धर्म, अन्यथा अधर्म मानी जाती है। क्रियामें गुण-दोषकी सचाई देखकर धर्मका निर्णय नहीं होता। इसीलिए आजका समाज तत्त्वदृष्टिसे रहित होनेके कारण—बड़े-बड़े वैज्ञानिक, प्रोफेसर और नेता, विद्यामें प्रसिद्ध बड़े-बड़े लोग भी और साधारण समाज भी, जब वस्तुमें गुण-दोष देखकर धर्माधर्मका निर्णय करने लगते हैं; तब थोड़ी देरके लिए उनका वह निश्चय ठीक रहता है, बादमें वह संघर्षका हेतु बन जाता है। अतः यह कहना होगा कि वस्तुके गुण-दोषके अनुसार नहीं, विधानके अनुसार धर्मका निर्णय होता है।

इसे समझनेके लिए—मान लो कि एक स्त्री बड़ी सुन्दरी, शील-वती, गुणवती है और यह माना जाय कि उसमें सुख ही सुख भरा हुआ है और यह स्त्री हमारी भोग्या है या ऐसी ही योग्यतावाला पुरुष हमारा भोग्य है तो क्या यह धर्म हो सकेगा? तब विधानकी शरण लेनी पड़ेगी। भोजनमें आयुर्वेदके अनुसार अनेक वस्तुओंमें गुण होते हैं; वहाँ भी विधान है। अमुकके लिए जो गुण है वह अमुकके लिए

दोष है! वस्तुके गुण-दोषका बौद्धिक निर्णय करके या वैज्ञानिक अनुसन्धानसे धर्मका निर्णय नहीं होता। बल्कि तत्त्वदृष्टिसे सब एक है; इसलिए राग-द्वेष न करके विधानके अनुसार धर्म-अधर्मका निर्णय होता है। हमारी दृष्टि सत्यपक्षपातिनी है। प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है, यह ठीक है, परन्तु प्रमेयके यथार्थस्वरूप-ज्ञानके बिना वह अकिञ्चित्कर है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अतः प्रमाण और प्रमेयका सम्बन्ध अनिर्वचनीय ही है। तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंने निर्णय किया कि न प्रमेयके अधीन प्रमाण है और न प्रमाणके अधीन प्रमेय है। विचारको पूर्णसत्ता देना अनिर्वचनीयताका कारण है विचारसे पलायन नहीं। अन्तरराष्ट्रीय जगत्में और अन्तरब्रह्माण्डीय जगत्में प्रागैतिहासिक समयमें और भविष्यमें शान्ति स्थापित करनेवाली, सर्व मजहबोंमें, पशु-पक्षी आदि प्राणी और मनुष्यमें शान्तिका दर्शन करनेवाली यह तत्त्वदृष्टि है।

हमारा अनुभव है कि यदि यह तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाय तो आगे कुछ होगा ऐसी परोक्ष-सत्ताका भय नहीं रहता। फिर कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता, आत्मसत्ताके सिवा कुछ भी शेष नहीं रहता। सम्पूर्ण ज्ञातव्योंकी इसमें परिसमाप्ति हो जाती है। यह तत्त्वदृष्टि सत्यके निरूपणकी दृष्टिसे, आचार-व्यवहारकी दृष्टिसे, प्रमाण-मीमांसाकी दृष्टिसे, स्वरूप-दृष्टिसे, तत्त्वदृष्टिसे सर्वथा परिपूर्ण है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों जो विद्वान् होंगे, जो अनुभवी होंगे, जो निष्पक्ष होंगे, जो तत्त्वका सचमुच अनुभव करना चाहेंगे, उन्हें एक-न-एक दिन स्वीकार करना ही होगा। स्वीकार करने न करनेपर भी यह सत्य तो हमेशा प्रज्वलित रहेगा, देदीप्यमान रहेगा।

बीज और जीव

इस विश्वप्रपञ्चमें ऐसा कोई प्राणी नहीं है—ब्रह्मासे लेकर कीट-पतंग पर्यन्त, जो दुःखसे परहेज (परिजिहीर्षा) न करता हो और उससे बचनेका यत्न न करता हो। विवेकदृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट हो जाता है कि दुःख अपने स्वरूपके अनुरूप नहीं, प्रतिरूप है। इसीसे बिना माता-पिता, गुरु और शास्त्रकी किसी प्रकारकी शिक्षा प्राप्त किये, बिना सिखाये, बिना संस्कार डाले स्वाभाविक ही मृत्यु, अज्ञान, भय आदिसे अरुचि होती है। विचार करके देखें तो जो दुःख बीत गया उससे छूटनेका कोई प्रश्न नहीं। जो प्रतीत हो रहा है, वह बीतता जा रहा है, जो आनेवाला है, वह ज्ञात नहीं है; फिर दुःखसे छूटनेकी इच्छाका क्या अर्थ हुआ ? जिन कारणोंसे दुःख होते हैं उन कारणोंसे छुटकारा। सदाके लिए छुटकारा, सर्वत्रके लिए छुटकारा, सर्वरूपसे छुटकारा अर्थात् आत्यन्तिक दुःखमुक्ति। ऐसी

स्थितिमें स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि दुःखका कारण क्या है और उसके निवारणका उपाय क्या है ?

देहके साथ ही दुःखका उदय होता है। जन्म-मरण दोनोंमें ही दुःखका अनुभव होता है। रोग, वियोग, भोग, संयोग, अनुकूल-प्रतिकूल सब देहके सम्बन्धसे ही होता है। स्वाधीनता-पराधीनता भी इसीके साथ लगी हुई है। धर्म, कर्म, अवस्था, स्थिति सब देहके ही बच्चे-कच्चे हैं। इस देहका सम्बन्ध ही दुःखका हेतु है। सम्बन्ध क्या है, 'मैं' और 'मेरे'के रूपमें इसे स्वीकार करना। अपने स्वरूपका विवेक करें और अपनेको देहसे अलग समझ लें : 'नाहम्', 'न मे'— 'न मैं' 'न मेरा।' बस, देहके बारेमें जो कुछ कहा जाय वह कहा जाने दो; जो कुछ हो, सो हो। जैसे रहे वैसे रहे यह न मैं, न मेरा। मैं द्रष्टा, साक्षी, असङ्ग, उदासीन हूँ। देहके दुःखसे मैं दुःखी नहीं, देहके सुखसे मैं सुखी नहीं। देहकी मृत्यु—जड़ता मेरा स्पर्श नहीं करती। इसके रोग और भोग मुझे छूते नहीं। इसके निरोध और विरोधका मुझे कोई अनुरोध नहीं है। इसकी श्रान्ति और भ्रान्तिसे मेरी शान्तिमें कोई विघ्न नहीं पड़ता। अहं और ममके रूपमें देहको ग्रहण करना ही दुःखका उपादान है। 'अहम्भानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्'। इसका अर्थ हुआ कि देह दुःख है और इसको आत्मा अथवा आत्मीय-रूपसे ग्रहण करना उपादान है। जब उपादान कारण ही नहीं रहेगा तो कार्य कहाँ ? अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।

अब सुनिए, यह देह कहाँसे आगयी ? 'मैं-मेरा' छोड़ देनेपर यह कहाँ चली जायेगी ? इस देहसे फिर वैसा ही सम्बन्ध नहीं हो जायगा, इसका क्या आश्वासन है ? देह चाहे एक तत्त्वसे बनी हो चाहे अनेकसे, जड़ धातुएँ, इसका घटन या गठन बिना धर्माधर्मके तो हो

ही नहीं सकता। धर्माधर्म बनता है कर्मसे। कर्म होता है शरीरसे। फिर तो देहकी सन्तान-परम्पराका कभी उच्छेद नहीं होगा; क्योंकि जैसे पहलेसे विहित और निषिद्ध कर्म होते आये हैं और होते हैं वैसे ही होते रहेंगे। देहसे कर्म और कर्मसे देह। ये दोनों बीज-वृक्षके समान अनादि परम्परासे चले आ रहे हैं। तब क्या जीवका जीवन एक बीजका जीवन है? नहीं, नहीं, बीजके जीवनमें और जीवके जीवनमें आकाश-पातालका अन्तर है। जीव अविनाशी चेतन है और बीज विनाशी जड़। आइए; एक बार दोनोंकी तुलना कर लें—

आपके हाथमें एक बीज है। क्या आप पहचानते हैं कि यह किस वृक्ष या फलका बीज है? यदि हाँ, तो इसे देखते ही आप इसके पूर्व रूप और उत्तर रूपकी कल्पना कर सकते हैं। यह बीज कैसे मूल, तनों, डालियों, पल्लव एवं पुष्पोंको पार करता हुआ आया है। अब यह बोनेपर फिर उसीसे मिलता-जुलता रूप ग्रहण करेगा। क्या यह सब बीजमें दीखता है? नहीं, परन्तु है सब बीजमें समाया हुआ। बीजको पृथ्वी, जल, गर्मी, प्रकाश, वायु और आकाश सब कुछ चाहिए—खेत, खाद, सिंचाई। वह आर्द्र होगा, फूलेगा, अंकुरित होगा, बढ़ेगा। उसे देश चाहिए, काल चाहिए। यह सब कुछ होनेपर भी वह अपने स्वभावके अनुसार ही आकृति, रूप, स्वाद प्रकट करेगा। बीज अनादि परम्परासे चला आ रहा है। अन्तर्बहिः, ऊर्ध्वाधः गति प्राप्त करता रहा है। यह तबतक चलता रहेगा जब तक इसका बीजत्व अग्नि आदिके द्वारा नष्ट न हो जाय।

अब आप एक जीवको अपनी कल्पनाके हाथपर लीजिए। उसमें एक विशेष प्रकारका जीवत्व है। उसको भी आविर्भाव-तिरोभावके लिए काल चाहिए। गमनागमनके लिए देशकी अपेक्षा है। नाना

प्रकारके रूप ग्रहण करनेके लिए द्रव्यकी आवश्यकता है। यह गमनागमन, जन्म-मरण और रूप-परिवर्तन कर्मके सम्बन्धसे होते हैं। बिना कर्मके उठना-गिरना, जीना-मरना अथवा जाना-आना नहीं हो सकता। एक ही वस्तु कर्मके बिना अनेक आकारोंमें परिवर्तित नहीं हो सकती। यही कर्म प्राकृत जगत्‌में विकार या विक्रियाके नामसे कहे जाते हैं। जो एक विशिष्ट प्रक्रियासे आकृतियोंकी धाराका निर्माण करते हैं। यही कर्म जीव-जगत्‌में कर्तृत्वपूर्वक किये जानेके कारण एक विशिष्ट वासनाजन्य संस्कारका रूप ग्रहण करते हैं; जिससे उनकी संज्ञा धर्म अथवा अधर्म हो जाती है। चैतन्यकी प्रधानतासे जीव होता है और जड़त्वकी प्रधानतासे बीज। जीवका वकार उसकी अन्तःस्थताका सूचक है और बीजका बकार बहिष्ठताका। बीज केवल निर्माणका हेतु है; परन्तु जीव निर्माण और प्रमाण दोनोंका। बीजकी शक्तियाँ केवल भौतिक द्रव्यमें रहती हैं और जीवकी भौतिक-अभौतिक दोनोंमें। जीवके बहिःकरण और अन्तःकरण दोनों जाग्रत् रहते हैं; परन्तु बीजके करण मूर्च्छित होते हैं। बीजमें धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती; परन्तु जीव प्रमाण-वृत्तिका आधार होने एवं कर्ममें स्वतन्त्र होनेके कारण धर्माधर्मका आधार बनता है। बीज भोग्यांशप्रधान है तो जीव भोक्त्रंशप्रधान। इसलिए जीवका सुख-दुःख जाग्रत् है और बीजका सुषुप्त। जीव अपने धर्माधर्मके द्वारा ऊर्ध्वगति और अधोगति प्राप्त करता है, तो बीज प्रकृतिकी स्वाभाविक धारामें विवश होकर!

जीव भी प्रकृतिके राज्यमें ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक्स्रोत और अधःस्रोत, तीन प्रकारके होते हैं। प्रायः पहले दोनोंमें जड़त्वकी प्रधानता रहती है; धर्माधर्मका ज्ञान नहीं रहता। परन्तु अधःस्रोतमें प्राकृत उन्नतिकी पूर्णता हो जाती है। वह ऊपरसे भोजन लेकर नीचेकी

ओर बढ़ता है। यह मनुष्ययोनि ऐसी ही है। इसमें कर्म, ज्ञान ओर प्रेमके प्रकट होनेकी पूर्ण योग्यता है; क्योंकि नवीन-नवीन कर्म करनेके लिए हस्त आदि इन्द्रियोंका, नित्य नूतन आविष्कार करनेके लिए बुद्धिका और आनन्दानुभूतिके लिए प्रेमका विकास स्पष्ट देखनेमें आता है। इस योनिमें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभावके अनुभवकी पूर्ण योग्यता है। यह अपने अन्तःकरणमें विद्या एवं कर्मका संस्कार धारण करता है और पूर्व प्रज्ञाका उदय भी देखनेमें आता है। इसलिए धर्माधर्मका सम्पूर्ण दायित्व मनुष्यमें ही प्रकट होता है।

अधर्माचरण करनेसे देह, इन्द्रिय और मनपर जीवका नियन्त्रण शिथिल हो जाता है; इसलिए उन्हें फिर प्रकृतिके नियन्त्रणमें जाकर उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज या द्विहस्त-द्विपादसे इतर जरायुज होना पड़ता है। धर्माचरणसे देह, इन्द्रिय और मनकी शुद्धि और नियन्त्रणकी वृद्धि होनेपर दैवीराज्यमें प्रवेशकी योग्यता मिलती है। दैवी राज्यमें भी प्रथमतः ऐन्द्रियक सुखका ही उत्कर्ष प्राप्त होता है; परन्तु एक इष्टकी अनन्यभावसे उपासना करनेपर ऐन्द्रिक सुखसे विलक्षण इष्टदेव सम्बन्धी दैवी सुखका आविर्भाव होता है। धर्मसुखमें अनेक देवता, मन्त्र और विधि-विधानके कारण फलमें भी अनेकता होती है। और उपासनामें एक इष्ट, मन्त्र, पद्धति और निष्ठा होनेके कारण भावप्रधान एकाग्रवृत्तिमें भागवत-सुखका आविर्भाव होता है। अन्तःकरणके साक्षी स्वयंप्रकाश चेतनका देश, काल और द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वृत्तियोंके निरोधसे यही द्रष्टा आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। तब यह देशकृत गमनागमन, कालकृत जन्म-मरण और द्रव्यकृत योनिपरिवर्तनसे मुक्त हो जाता है। उपाधियोंसे असंग हो जानेके कारण उस समय यह

द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है; परन्तु समाधि टूट जानेपर इसका फिर वृत्तिसारूप्य हो जाता है। इसलिए वृत्तियोंके नियन्ता द्वारा इसका भी नियन्त्रण और जन्म-मरण आदि शक्य हो जाता है। परन्तु वेदान्तोक्त ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान होनेपर देश, कालादिका बाध अर्थात् मिथ्यात्वनिश्चय हो जाता है, तब जन्म-मरणादिकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। जबतक वृत्तिमें सत्यता और उसके साथ तादात्म्य रहेगा तबतक भेदकी सत्यता, द्रष्टाकी अनेकता और ईश्वरकी पृथक्ताको कोई मिटा नहीं सकता। इसलिए जन्म-मरणका प्रवाह बना ही रहेगा। बीजत्व भौतिक होनेसे अनादि होनेपर भी भौतिकाग्नि-नाश्य हैं; परन्तु जीव चेतन होनेके कारण भौतिकाग्नि-नाश्य नहीं है। इसका वृत्तियोंके मूलभूत वासनाबीज संस्कारोंके साथ अविद्यामूलक तादात्म्य है; इसलिए ज्ञानाग्निके द्वारा अविद्याका दाह हुए बिना जीवका जीवत्व निवृत्त नहीं हो सकता। जीव चेतन है, उसकी जीवनसत्ता अनादि और अनन्त है। वह देश, काल और द्रव्यकी कल्पनाको अपनी दृष्टिमें धारण करता है। देश, काल, द्रव्यकी भासमानता बाधित है और चेतनका स्वरूप सर्वथा अबाधित। अनुभवकी प्रणालीमें अपना नास्तित्व नहीं है। कोई भी यह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं नहीं हूँ। इसलिए जीवका वास्तविक जीवन अनन्त और अद्वय है। वह अपनी कल्पनामें ही भासमान कालके साथ तादात्म्यापन्न होकर अपनेको नित्य, देशके साथ तादात्म्यापन्न होकर व्यापक और द्रव्यके साथ तादात्म्यापन्न होकर सर्वात्मक समझता है। वस्तुतः नित्यता, व्यापकता और सर्वात्मकता भी उसके यथार्थ स्वरूप नहीं हैं; कल्पित दृश्यमें तादात्म्यके कारण ही हैं। अधिष्ठान चेतन ही वस्तुतः जीवका यथार्थ स्वरूप है और उसमें द्वैतकी किंचित् भी गन्ध नहीं है। बाधित भासमानताका कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः बीजत्व और जीवत्व

आविद्यक हैं। बीजसत्ता और जीवसत्ता—दोनों ही अखण्ड चिन्मात्र सत्तासे अभिन्न हैं।

अब फिर एक बार पहली बातपर लौट चलें। किसी भी एक वस्तुमें अनेकाकारताका क्या कारण है? विक्रिया अथवा क्रिया। विक्रिया प्राकृत अथवा स्वाभाविक है; परन्तु क्रिया कर्ताके द्वारा अनुष्ठित है। क्रिया, धर्म अथवा अधर्मसे अनुविद्ध होती है, क्योंकि उसके मूलमें प्राप्ति अथवा परिहारकी इच्छा रहती है। प्राप्तिकी इच्छा शोभनाध्यासमूलक है और परिहारकी इच्छा अशोभनाध्यासमूलक। इसी इच्छाकी दृढ़ता-अदृढ़तासे विहित-प्रतिषिद्ध क्रियाका आचरण होता है। अध्यास अज्ञानमूलक है, इसलिए जबतक अज्ञान रहेगा तबतक अध्यास रहेगा और जबतक वह रहेगा तबतक वासनाकी निवृत्ति न होनेके कारण जन्म-मृत्युका चक्र भी निवृत्त नहीं हो सकता। इस चक्रकी निवृत्तिके लिए वेदान्त-ज्ञानकी अपेक्षा है। यदि वह कालकी प्रधानतासे जन्म-मरण, देशकी प्रधानतासे गमनागमन, द्रव्यकी प्रधानतासे योनिपरिवर्तन, ईश्वरके द्वारा नियन्त्रित कर्मफल न होता और अज्ञानी जीव इस फलको भोगनेके लिए बाध्य न होता तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञानकी आवश्यकता ही न होती और सम्पूर्ण वेदान्तका श्रवण, मनन निदिध्यासन व्यर्थ हो जाता। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानकी आवश्यकता ही इसकी निवृत्तिके लिए है।

श्री गौड़पादाचार्यजी महाराजने जिन्हें श्री शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्रसे शारीरकभाष्यमें 'सम्प्रदायविद्'के नामसे स्मरण किया है और श्री सुरेश्वराचार्यने 'वेदान्तमर्मज्ञवृद्ध'के रूपमें अपनी कृतियोंमें स्थान-स्थानपर समादृत किया है। कहा है:

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते॥

आत्माको ब्रह्म अर्थात् देश, काल, वस्तुपरिच्छेदरहित सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य न जानकर यह बात मानी जाती है कि मैं धर्म-अधर्मका कर्ता और उसके फल सुख-दुःखादिका भोक्ता हूँ, तब जन्म-मरणरूप संसारकी वृद्धि ही होती है। जब ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अज्ञानमूलक कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्व आदि बाधित हो जाते हैं तब जन्म-मरण, गमनागमन आदि अनर्थमय संसारकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए तत्त्वज्ञानके पूर्व पुनर्जन्म और परलोकको न मानना वेदान्तविद्यासे विमुख करनेवाला है और घोर अनर्थमें फँसानेवाला है।

यह बात सर्वथा वेदान्तसम्मत और युक्तियुक्त है कि जीवका जीवन अखण्ड चिन्मात्र सत्ता ही है। अज्ञानके कारण ही भेद-भ्रम होता है। भेदमात्र ही प्रातिभासिक है। भेद वस्तुसत्य नहीं है। तत्त्वतः अपने स्वयंप्रकाश अधिष्ठानसे भिन्न भी नहीं है। अपना आत्मा ही यह अधिष्ठान है। अन्ततः हम आपके अनुसन्धानके लिए एक वेदमन्त्र उपस्थित करते हैं :

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्
अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो
देवः. क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥

•

आत्मचिन्तनकी रीति

१. एक ब्रह्मविद् महापुरुषका कथन है कि 'मैं देह नहीं हूँ' इस विवेककी परिपुष्टि ही आत्मचिन्तन है; क्योंकि मनुष्य, हिन्दू, ब्राह्मण, संन्यासी, स्त्री, पुरुष, आदिके भेद-भावका मूल यह देह ही है। उनका कहना था कि यदि विवेक न हो तो भी ऐसा भाव करना चाहिए कि यह देहाभिमानी धरतीपर बैठा हुआ है और मैं छतपर। आत्मा चेतन है, देह जड़। इनका तादात्म्य भी भ्रम है और संसर्ग भी; अर्थात् यह न 'मैं' है, न मेरा। फिर इसमें आरोपित गुण-दोषसे तो अपना सम्बन्ध ही क्या है?

२. जैसा कि प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें निरूपण है—'पृथिवी जलमें लीन हो जाती है'—यह चिन्तन किया जाय कि इस विश्वमें पृथिवी नामकी कोई वस्तु नहीं है। फिर तो देह, प्राणी, वन, पर्वत, गाँव और मिट्टी कुछ नहीं होंगे। केवल जल ही होगा। आकाशके अवकाशमें वायु-वेगसे लहराता हुआ, तेजस्से प्रदीप्त केवल अपार, अगाध, अनन्त जलराशि, एक अखण्ड महार्णव। मैं और तुमके भेदके लिए कोई पार्थिव निमित्त नहीं रहेगा। यह भाव भेदभ्रान्तिको शिथिल कर देगा। आत्मा एकरस असंग साक्षी है।

३. न पृथिवी है, न जल, केवल प्रकाश है। जितनी आकृति, प्रकृति-विकृति और संस्कृतियाँ भास रही हैं—सब प्रकाशके विलास हैं। रूप-रंग, अंग-अनंग, सब उल्लसित प्रकाशकी दीप्तियाँ हैं। केवल हीरेकी दमक है। सोनेकी चमक है। 'मैं वही प्रकाश हूँ, असंग साक्षी चेतन हूँ।'

४. यह जो शरीरमें श्वासोच्छ्वासका गमनागमन हो रहा है, यह देहकी उपाधिसे समष्टि-वायुका ही रास-विलास है। वही मन्द, मध्य, मन्द्र गतिसे तालपर और कभी बेताल भी पाद-विन्यास कर रहा है। क्या समष्टि वायुसे पृथक् प्राणवायुका कोई अस्तित्व है? उसीके संघर्षसे ऊष्मा, द्रवतासे जल, गाढ़तासे पृथिवी बनती है। वस्तुतः हमारा श्वास-प्रश्वास व्यष्टिप्राण नहीं, समष्टिप्राण है। इसीकी लास्यमयी यह लीला है—सृष्टि। न मिट्टी है न पानी, जो कुछ है हमारे प्राणोंकी परिणाम-प्रक्रिया है। न प्रकाश है, न ऊष्मा। सब प्राणकी गुदगुदी है। प्राणकी अशेषतामें भौतिक विशेषताका निषेध है। प्राण कभी शान्त है, कभी विक्षिप्त। आत्मा है उसका असंग आधार—एकरस चेतन।

५. श्री उड़ियाबाबाजी महाराजने उपदेश किया कि ऐसा चिन्तन करो—'मैं देह नहीं, आकाश हूँ।' इसका अर्थ यह हुआ कि 'मैं परिच्छिन्न व्यष्टि नहीं, चिदाकाश हूँ!'

अब इस पर थोड़ा चिन्तन किया जाय। आकाश, वायु आदिका क्रम परिणामी उपादान है। क्रम कालका बोधक है और परिणाम नियन्त्रणका। वह वायु आदिका दिक्तादात्म्यापन्न आधार भी है। इसका अभिप्राय यह है कि देश, काल और कारण द्रव्य एकाकार होकर आकाशके रूपमें भास रहे हैं। वे अपने समग्र कार्यमें अनुगत भी हैं और विविक्तरूपसे उनसे व्यावृत्त भी। इस आकाशको यदि परिपूर्ण चेतनसे एक रूपमें देखा जाय तो इसीका नाम महेश्वर है। पूर्ण अहंतावादी शैव आदि इसीको अपने अहंके रूपमें अनुभव करते हैं और अपने अनुभवका अनुवाद करते हैं कि 'मैं ही सर्वकारण, सर्वोपादान, सर्वनियन्ता, सर्वाधार एवं सर्वस्वरूप परमेश्वर हूँ।' निश्चय ही इस भावनासे देहका तादात्म्य भंग हो जाता है। कई लोग इसको पूर्णताप्रत्यभिज्ञा कहते हैं; अर्थात् अपनी भूली-बिसरी पूर्णता पुनः ज्ञानगोचर हो गयी। अपने पारमैश्वर्यका यह स्फुरण विशेषकर अनुवृत्ति भावनापर अवलम्बित है। वस्तुतः मैं चेतन आत्मा ही कारणशरीर होकर ईश्वर, समष्टि सूक्ष्मशरीर होकर हिरण्यगर्भ, और स्थूल विश्वशरीर होकर विराट् नामधारी हो रहा हूँ। सर्वनामरूप विभाग, विमर्श, इच्छा, शक्ति, क्रिया और द्रव्य मेरे ही स्फुरण हैं। साधनाकी दृष्टिसे यह चिन्तन बहुत उत्तम अवस्था है।

परमार्थकी दृष्टिसे चिन्तन किया जाय तो परिच्छिन्नताके निवारणके लिए यह आकाशका चिन्तन साधन होनेपर भी सिद्ध वस्तुका

सम्पूर्ण बोध नहीं है; क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मवस्तु किसी भी दृश्य वस्तुसे विलक्षण है। जो वस्तु चेतनसे चेतनमें प्रकाशित हो रही है, उसके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान भी चेतन ही है। इसलिए वह वस्तु अपने अत्यन्ताभावके अधिकरणमें प्रकाशित होनेके कारण मिथ्या तो है ही, अत्यन्ताभाव-स्वरूप भी है। वेदान्त-मतमें अत्यन्ताभाव अधिष्ठानसे भिन्न स्वीकृत नहीं है; अतएव आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त न अत्यन्ताभाव है और न तो उसका प्रतियोगी। इसका अभिप्राय यह है कि अखण्ड चेतन आत्मा ही ब्रह्म है और उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

ऐसी स्थितिमें 'मैं अखण्ड चिदाकाश हूँ' इस चिन्तनका अभिप्राय केवल इतना ही रहता है कि परिच्छिन्न दृश्यादृश्यके अज्ञाननिमित्तक तादात्म्य-भ्रमकी निवृत्ति हो जाय। आत्मा स्वयं-प्रकाश, द्वितीय ब्रह्म ही है—इस अनुभवमें ही सब चिन्तनोंका पर्यवसान है।

एक निराकार सत्ता ही सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्चका उपादान है। वह जबतक कार्य-दृष्टिसे कल्पित है, तबतक उसमें परिणामकी कल्पना करनेमें आपत्ति नहीं है; परन्तु जब निर्विशेष सत् और निर्विशेष चेतनकी एकता एवं अद्वयताका बोध हो जाता है तब कार्य-कारणभाव बाधित हो जाता है और सत्‌में कल्पित उपादानता भी निवृत्त हो जाती है। यही दशा क्रम, विस्तार और आधारताकी भी है। ये तभीतक हैं जबतक कार्य-कारणभाव है। उसके बाधित होनेपर कालगत नित्यता और देशगत पूर्णताका कोई प्रश्न ही नहीं रहता। श्रुतिने स्वयं ही व्याप्य-व्यापक भावको मिथ्या बताया है। ऐसी स्थितिमें 'मैं व्यापक हूँ, आधार हूँ, कारण हूँ,

अविनाशी हूँ, सत्य हूँ, चेतन हूँ, प्रकाशक हूँ, प्रिय हूँ, अद्वय हूँ', इत्यादि चिन्तनकी धारा भी अनपेक्षित हो जाती है। सार-सार यह कि नामरूप क्रियात्मक प्रपञ्च भी भासमान है। पहला बाधित है और दूसरा अबाधित। यह अबाधित आत्मसत्ता ही परमार्थ है।

आत्माको चिदाकाशके रूपमें चिन्तन करनेका यह सुनिश्चित ज्ञान अवश्यम्भावी फल है।

६. जैसे कोई जादूगर स्वयं अदृश्य रहकर ऐसा खेल दिखाये कि एक प्राणिशरीर एक पतले-से धागेके सहारे निराधार आकाशमें लटक रहा है। वह शरीर चाहे व्यष्टि हो, चाहे समष्टि, पिण्ड हो या ब्रह्माण्ड, अनन्तकी दृष्टिसे उसकी अल्पता-अनल्पता, लघुता-विशालता, एकता-अनेकता अथवा नित्यता-अनित्यताका कोई मूल्य नहीं है। अपने-अपने विशेष धागेमें अटके और लटके हुए विशेष-सामान्य, स्वभाव, गुण-दोष, आकृति, विकृति, एवं संस्कृति प्रकट कर रहे हैं। यह कठपुतलीके खेलके समान एक खेल प्रकट हो रहा है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ब्रह्माण्ड लट्टूके समान लटक रहे हैं। यह धागा क्या है? यह सूत्र एक-एक इकाईका अलग-अलग भी प्रतीत होता है और कभी-कभी समवाय-सा भी प्रतीत होता है। यह विद्युत्-वाही सूत्र प्रत्येक यन्त्रमें निहित विशेषताके अनुसार उसका संचालन करता है। परन्तु इन पृथक्-पृथक् सूत्रोंमें—सूक्ष्म शरीरोंमें जो विद्युत्-धारा प्रवाहित है, वह क्या है? सूत्र सूक्ष्म शरीर है तो तदवस्थ चिदाभास अहं ही विद्युत्धारा है। जब इस पृथक्-पृथक् विद्युत्-धाराके सामान्य अनुस्यूत चिदाभासका चिन्तन करते हैं तो जो व्यष्टिदृष्टिसे तैजस अथवा सूत्रात्मा है वही समष्टि दृष्टिसे हिरण्यगर्भ है। वासनाके रंगमें रँगी हुई वासनोपरक्त यह

समष्टि ही हिरण्यगर्भका रक्तशरीर है। इस रक्ततामें सारे विभाजन, वे चाहे दैशिक, कालिक अथवा जड़ीय क्यों न हों, डूबते-उतराते रहते हैं। वस्तुतः उसमें स्थूल-सूक्ष्मका विभाग नहीं है; सब केवल मनोमयभावमात्र हैं और एक विशाल निरवकाश रक्तिमाके समुद्रमें अन्तस्तरंगोंका उन्मेष-निमेष अथवा उन्मज्जन-निमज्जन है। इस विशेष संविद्रूप अगाध विद्युत्-राशिमें निहित एवं शान्त जो कारण-वारि है वही समग्र उन्मेष-निमेषोंका केन्द्र है। वह एक प्रकारकी अगाध, अपार, निरवकाश श्वेतिमाका निस्तरङ्ग समुद्र है और वहाँ संविद्रूप विद्युत् भी निश्चल ही है। वह सम्पूर्ण शक्तियोंका केन्द्र होनेपर भी शान्तिका केन्द्र है। उसमें न किसी प्रकारका संकोच है, न विस्तार, न विकार है, न विकास। उसमें न प्रवृत्ति है, न निवृत्ति, न स्थूल है, न सूक्ष्म; परन्तु वही सबका मूल है। वह चिदाभास तो है परन्तु आभास्य नहीं है। वहाँ आभास और आभास्य एक हैं। यही कारण है कि सगुण एकत्ववादी जब उसका निरूपण करने लगते हैं तो अनेक विचारशील जिज्ञासुओंको भ्रम हो जाता है कि वही ब्रह्म है। यह श्वेत चिदाभास-प्रकाश भी एक बृहत् नीलिमामें निःसम्बन्ध ही सूर्यपिण्डवत् भासमान है। यह नीलिमा कोई वस्तु नहीं है; न लम्बाई, न चौड़ाई, न जायमान, न म्रियमाण, न नाप, न तौल। यह नीलिमा एक माया है—छाया है। यह अपने साक्षी-स्वरूपसें बिना अर्थ हुए और बिना संसर्गके ही भास रही है। जब अन्यरूप अर्थ ही नहीं है तो संसर्गका प्रश्न कहाँ है? फिर यह माया-छाया क्या है? यह नीलिमा क्या है? चिन्मात्र आत्मवस्तुमें जो कि स्वयंप्रकाश है और प्रकाश्य-प्रकाशक भावसे विनिर्मुक्त है, उसमें यह माया-छाया एक असम्भव कल्पना है। अनन्त ज्ञान आत्मा है और उसका ग्राह्य-ग्रहण भावसे रहित होना नीलिमा है। यह रक्तिमा, श्वेतिमा अथवा नीलिमा उस व्यावहारिक

बुद्धि-वृत्तिकी उड़ान है जो मूल तत्त्वको ढूँढ़ना चाहती है। परमार्थतः जो इनका साक्षी है अर्थात् 'मैं' अथवा 'आत्मा' शब्दका वास्तविक अर्थ है, उसमें यह माया-छाया रूप नीलिमाका कोई अस्तित्व नहीं है। देश-काल-वस्तुके सारे विभाग किसी भी रूपमें इस अनन्त-संवित्का स्पर्श नहीं कर सकते। यही संविद् अद्वय है, अनन्त है, अखण्ड है, ब्रह्म है, इसीमें सम्पूर्ण वेदान्तों और अनुभवोंका पर्यवसान है। उस नीलिमासे लेकर स्थूल सृष्टिपर्यन्त सब अपनी चमक है, दमक है। न है, न नहीं है। बस, अपना-आपा ही है।

७. औपनिषद तत्त्वके जिज्ञासुके लिए योग-सांख्योक्त त्रिगुणमयी प्रकृतिको स्वीकृति देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। सांख्ययोगके मतमें ही गुणोंका परम-रूप दृश्य नहीं है। वे गुणोंको कार्यानुमेय मानते हैं और तदनुकूल श्रुतिकी व्याख्या कर लेते हैं। वस्तुतः नित्य परोक्ष होनेके कारण व्याप्तिग्रह न होनेसे गुण अनुमानसिद्ध नहीं हैं, केवल वाक्यगम्य ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'प्रकृति' शब्दका अर्थ ईश्वरकी उपाधि माया अथवा जीवकी उपाधि अविद्या ही हो सकता है। नाम-रूप-विनिर्मुक्त तत्त्वमें माया-अविद्या पर्यायवाची शब्द हैं। अपने अनवच्छिन्न रूप अधिकरणमें दोनोंका अत्यन्ताभाव है। इसलिए दोनों ही मिथ्या अथवा अनिर्वचनीय हैं। अतएव अधिष्ठान ज्ञानसे उनकी बाधरूप निवृत्ति हो जाती है।

यही कारण है कि वेदान्तकी चिन्तन-धारामें माया, अव्याकृत, अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान, अविद्या, अज्ञान, मोह और कारण शरीर आदि शब्द पर्यायवाची ही हैं। इसलिए सत्त्व, रज, तमके चिन्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है। केवल सच्चिदानन्दके चिन्तनसे ही आत्मज्ञानके मार्गमें आगे बढ़ सकते हैं। अपने देहकी ओर देखिये।

नाभिसे नीचे स्थूल प्रणवका विभाग है। जननेन्द्रियसहित दोनों चरण आकाररूप हैं। उनको नाभिके साथ जोड़नेवाली शिरा उकार-रूप है और स्वयं नाभि विन्दुरूप है। यह स्थूल ओंकार है। यह चेत्य अर्थात् जड़ प्रधान है। क्रियाका आश्रय सत् है। वृत्तिका आश्रय चित् है और सुखभोगका आश्रय आनन्द—तीनोंमें अनु स्यूत आत्मा एक है। वही ओंकारका लक्ष्यार्थ है। वह चेतन है। अब थोड़ा ऊपर दृष्टि उठाइए। दोनों बाहु और उनका मध्य भाग अकार है। कण्ठपर्यन्त उकार है और विशुद्ध चक्र विन्दु है। तीनोंमें अनुस्यूत ओंकारार्थ चेतन आत्मा है। यह भावप्रधान सूक्ष्म ओंकार है। स्थूल ओंकारमें जो चेतन आत्मा है, वही सूक्ष्म ओंकारमें भी है। चेतन-चेतन एक है। थोड़ा और ऊपर उठिए। दोनों भौंहें और उनके मध्य भागसे सम्बद्ध नासिकाग्र अकार है। दोनों नेत्रोंके रश्मिमूलपर्यन्त उकार है। ब्रह्मरन्ध्र बिन्दु है। यह कारण-प्रणव है। यह ज्ञानप्रधान है। इसमें अनुस्यूत चेतन आत्मा है। वही ओंकारका लक्ष्यार्थ है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रणवाकृतिका भेद होनेपर भी प्रभव लक्ष्यार्थ आत्मा एक ही है। देश-काल-वस्तु आदि समग्र भेद इन त्रिविध शरीरोंमें ही, शरीरोंसे ही, शरीरमूलक ही भासते हैं। शुद्ध चेतनमें देश-काल-द्रव्यका अत्यन्ताभाव है। अतः अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें भासमान होनेके कारण ये मिथ्या एवं बाधित हैं। आत्म-चैतन्य अबाधित भासमान है और तदतिरिक्त बाधित भासमान। इस बाधित भासमानकी उपेक्षा ही आत्म-दृष्टि है। इसे ही आत्मचिन्तन कहते हैं।

●

ध्यानका रहस्य

१. मनमें आये बिना कोई वस्तु भासती नहीं। मन बिना चेतनका नहीं होता। इसको फिरसे समझ लें। चेतन ज्ञानस्वरूप आत्मामें मन भासता है। मनमें वस्तु भासती है। इन्द्रियोंके द्वारा वस्तुको अभी देख रहे हो या पहलेकी देखी हुई है, वह वस्तु गन्ध, रस, रूप, स्पर्श अथवा शब्दका आश्रय हो सकती है या सबका सम्मिलित-रूपसे आश्रय हो सकती है। अब आप ध्यान करनेके लिए चाहे गन्धके आश्रय एक मिट्टीके टुकड़ेको लें, रसके आश्रय जलको लें, रूपके आश्रय अग्निको लें, अथवा एक पुष्प ले लें जिसमें इन तीनोंके अतिरिक्त स्पर्श भी हो। उस वस्तुका जिस इन्द्रियके द्वारा ग्रहण हो रहा है, जैसे पुष्पके रूपदर्शनमें नेत्र। नेत्रवृत्तिके द्वारा वह पुष्प मनमें पहलेसे आया हुआ है या अब आ रहा है, चाहे कुछ भी हो, उसका रंग, रूप, आकृति, गन्ध, कोमलता, रसीला-पन—सब कुछ मनमें ही भास रहा है। पुष्पके दर्शनकी क्रिया मनमें ही सम्पन्न हो रही है। अब आप मन ही मन बन्द आँख या खुली आँख उस पुष्पको देखिए। जहाँ पुष्प दीख रहा है, उस मनमें पुष्प बिना हुए भास रहा है। इस स्थानमें इतनी लम्बाई-चौड़ाईका, इस रंग, रूप, आकृतिका, इस रस-गन्धका, इस नामवाला पुष्प इतनी

देरतक दीखता रहा—यह सब केवल कल्पना है। मनमें दीखनेवाले फूलका न देश है, न काल है, न आकृति है, न भार है, न गुण है, न विशेषता है। आपका मन ही है जो फूलके रूपमें दीख रहा है। अब आप फूलको ऐसी दृष्टिसे देखिए कि फूलके कण-कणमें, क्षण-क्षणमें, रश्मि-रश्मिमें मन ही है। वस्तुतः फूल नहीं है, मन ही है। जब उस फूलके बिना आपका मन रह जायगा, तब वह अपनेको आपकी चेतनतासे पृथक् नहीं दिखायेगा। साकार मन ही दीखता है, निराकार मन नहीं। निराकार मन चेतनसे अभिन्न होता है। इस स्थितिको रहने दीजिए, जब तक रहे। इसमें विषयावच्छिन्न चैतन्य और मन-अवच्छिन्न चैतन्यका भेद नहीं रहा। मनके चंचल होनेपर आपकी बुद्धि कहेगी कि आप चेतन हैं, आप मन हैं, आप फूल हैं अर्थात् आपके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो आप ध्यानमें थे, वही आप व्यवहारमें हैं। यह केवल फूलका ध्यान नहीं है, आप किसी भी विषयका इसी प्रकार अनुसन्धान करके ध्यानस्थ हो सकते हैं। इसका रहस्य यह है कि जहाँ वस्तुतः सर्प न हो और दीख रहा हो तो अवधानपूर्वक देखनेसे वह लुप्त हो जाता है और उसका अधिष्ठान रह जाता है। इसी प्रकार चेतन अथवा मनमें जो वस्तु विद्यमान नहीं है, वह सावधान होकर ध्यान देनेपर अदृश्य हो जाती है।

२. आप किसी एक इन्द्रियपर अथवा सब इन्द्रियोंपर ध्यान दीजिए। एक ज्ञान है जो स्थानभेदसे भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करता है। सभी गोलक स्थानीय हैं और वहाँ वासना-विशेषसे वासित ज्ञान ही इन्द्रियोंका काम कर रहा है। गन्ध-वासना, रूप-वासना आदि वासनाओंके पृथक्-पृथक् होनेपर भी ज्ञान एक ही है। शीशेके रंग अलग-अलग, रोशनी एक। आप किसी भी वासनाके साथ प्रयोग

करके देख लीजिए। वासनाओंका उदय-विलय होता है। वे अलग-अलग होती हैं। ज्ञान एक है। किसी वासनाको भी इतने गौरसे देखिए कि उसमें ज्ञान दिखे, ज्ञानसे अलग वासना न दिखे। दक्षिणाक्षिमें पुरुषका दर्शन कीजिए अर्थात् इन्द्रिय-गोलक मत देखिए, तदुपाधिक ज्ञान देखिए। गोलक, वासना, वृत्ति—यह सब ज्ञानमात्र ही हैं। सभी इन्द्रियोंकी यही दशा है। वे ज्ञानमात्र हैं। आप ज्ञान-मात्र हैं। इन्द्रियोंका अलग-अलग दीखना बन्द। केवल आप। ध्यान-कालमें ही नहीं, व्यवहार-कालमें भी आप ही तत्तत् इन्द्रियों और उनके विषयोंके रूपमें भास रहे हैं।

३. दैहिक जीवनकी दृष्टिसे ही अन्तःकरण, बहिःकरणका भेद होता है। तात्त्विक जीवनमें इनका कोई सत्त्व-महत्त्व नहीं है। संस्क्रिया चित्त, विक्रिया मन, अहंक्रिया अहंकार और प्रक्रियाका नाम बुद्धि है। इनको क्रमसे खजाना, संकल्प, मैं-पना और निश्चय भी कह सकते हैं। यह समूचा अन्तःकरणके नामसे प्रसिद्ध है। जब आप परमार्थका कोई आकार मनमें बनाते हैं, बुद्धिसें उसका निश्चय करते हैं, वह मैं ही हूँ—ऐसा सोचते हैं या शान्त होकर बैठ जाते हैं तो ये चारों स्थितियाँ अन्तःकरणकी ही होती हैं। ये चेतनसे प्रकाशित हैं अर्थात् आप इनके द्रष्टा-साक्षी हैं। आपको द्रष्टा-साक्षी बनना नहीं है, होना भी नहीं है, केवल समझ लेना है कि आप असंग-उदासीन कूटस्थ-तटस्थ हैं। न आपको अन्तरमें घुसना है, न थोड़ी देरके लिए निष्क्रिय होना है, न दृश्यको देखने लगना है। यह सब अन्तर, थोड़ी देर और दृश्य तो आपकी दृष्टिकी चमक है। आप देखिए, कोई वस्तु ही नहीं है, दृष्टि ही है। जिस अन्तःकरणके पेटमें सब कुछ प्रतीत होता है उसमें तो संस्कार-युक्त ज्ञान-रश्मियोंके अतिरिक्त और कोई पदार्थ ही नहीं है। वह अन्तःकरण-रूप फिल्म आपमें आपसे ही

प्रकाशित है। वस्तुतः आप ही हैं। अन्तःकरण और अन्तःकरणस्थ ईश्वर, जीव एवं देश-काल-द्रव्यात्मक जगत् बिना हुए ही भास रहे हैं। गम्भीरतासे देखनेपर फिल्म बिखर जायगी, केवल चेतन रहेगा, क्योंकि वह चेतनके अतिरिक्त और कुछ है हो नहीं। अन्तःकरणकी फिल्ममें ही देश-काल-वस्तु सब हैं, चेतनमें नहीं। आप स्वयं अखण्ड चेतन हैं।

४. अच्छा आप इसपर दृष्टि डालिए कि आप अन्तःकरणके द्रष्टा उससे पृथक् हैं। अब यह देखिए कि अन्तःकरण और आपके बीचमें तीसरी कौन-सी वस्तु है? वह अन्तःकरणका अभाव है। वह भी दृश्य है। एक कार्यरूप-दृश्यरूप है, एक बोज-विशिष्ट कारणरूप दृश्य हैं। अन्तःकरणमें जो चेतन है, वह जीव है। अन्तःकरणाभावमे जो चेतन है, वह ईश्वर है। आप भाव-अभाव दोनोंके ही द्रष्टा हैं। असलमें, यह बीज और अंकुर क्या हैं? अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणाभावावच्छिन्न चैतन्यमें भेद ही क्यों है? आप स्वयं साक्षी चैतन्य हैं। इस भेदका कारण आपका अपनी ब्रह्मताका अज्ञान ही है, अर्थात् आप ही अभावावच्छिन्न ईश्वरचैतन्य हैं और भावावच्छिन्न जीवचैतन्य हैं। चैतन्यमें अवच्छिन्नता-अनवच्छिन्नताका भेद नहीं है। अपने स्वरूपके ज्ञानमें भेदका लोप हो गया। ज्ञान भानका विरोधी नहीं है, भ्रमका विरोधी है। अब ईश्वर, जीव, अन्तःकरण और उसका अभाव भासने दीजिए। आपकी समाधि अखण्ड है, सहज है। आपके सामने ईश्वर, जीव, अन्तःकरण, जगत्—सब भास रहे हैं। आप अद्वय तत्त्व हैं।

•

वेदका अभेदपरत्व

प्रश्न : क्या वेदका तात्पर्य—विषय भेद है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध है। प्रमाणान्तरसे सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेपर वेद अज्ञातज्ञापक प्रमाण नहीं रहेगा, दूसरे प्रमाणसे सिद्ध पदार्थका अनुवादक हो जायगा। जो वस्तु साक्षीके अनुभवसे ही सिद्ध हो रही है, उसकी सिद्धिके लिए वेदतक दौड़नेकी क्या आवश्यकता है ? वेद ऐसी वस्तु बताता है जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदिसे सिद्ध नहीं होती। वेद केवल साक्षि मात्रका भी प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध है और सबका प्रकाशक है। वेदका वेदत्व साक्षीको ब्रह्म बतानेसे ही सफल होता है।

वस्तुतः बात यह है कि परिच्छिन्न स्थूल, सूक्ष्म पदार्थसे अभेद अथवा तादात्म्य होना अज्ञानका लक्षण है। दृश्य, साक्ष्य अथवा भेदमात्रसे अपनेको पृथक् द्रष्टा जानना विवेक है। इस पृथक्त्वमें भिन्नत्व अनुस्यूत है। जड़से चेतन आत्मा भिन्न है। यह भिन्नत्वकी भ्रान्ति भी अज्ञानकृत है। वेद प्रमाणान्तरसे अज्ञात आत्माकी अपरिच्छिन्नता अद्वितीयताका बोध करा देता है। आत्मा होनेसे चेतन है, ब्रह्म होनेसे अपरिच्छिन्न, अद्वितीय है। इस ऐक्यके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। भेद बाधित हो जाता है। यह अज्ञानकी निवृत्ति और बाधित भेद भी आत्मस्वरूप ही है। क्योंकि वह अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं है। प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुका बोध करानेके कारण ही श्रुतिका वास्तविक प्रामाण्य है।

प्रश्न : तब क्या भेद सत्य नहीं है ?

उत्तर : कदापि नहीं। भेद सर्वथा मिथ्या है; परिच्छिन्नके तादात्म्यसे ही भेद सत्य भासता है। जिस अधिष्ठानमें भेद भास रहा है; उसीमें उसका अत्यन्ताभाव भी भास रहा है। अपने अभाव-के अधिष्ठानमें भासना ही मिथ्याका लक्षण है। इसलिए यह युक्ति बिलकुल ठीक है—'**भेदो मिथ्या स्वभावाधिकरणे भासमान-त्वात्**' यह अनुभवसिद्ध है कि अधिष्ठान-ज्ञानसे भेद मिथ्या हो जाता है। इसलिए वेदका तात्पर्य मिथ्या भेदके प्रतिपादनमें नहीं है, प्रत्युत भेदके भाव और अभावके अनुकूल शक्ति, मायाके अधिष्ठानके प्रतिपादनमें है।

प्रश्न : तब क्या भेदके प्रतिपादनसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती ?

उत्तर : भेदके प्रतिपादनसे अर्थ, धर्म, काम रूप तीनों पुरुषार्थों-की सिद्धि होती है, परन्तु मुक्तिकी सिद्धि नहीं होती। भेदमें परि-च्छिन्नताकी भ्रान्ति दुःख है, अहंकार दुःख है, राग-द्वेष दुःख है और जन्म-मरण भी दुःख है। भेदमें समाधि-विक्षेप नहीं छूटते, सुख-दुःख नहीं छूटते, पाप-पुण्य नहीं छूटते और संयोग-वियोग भी नहीं छूटते; इसलिए भेदमें जन्म-मरणका चक्र अव्याहत रूपसे चलता रहता है। इसलिए मुक्ति-पुरुषार्थकी सिद्धि भेदसे नहीं हो सकती। मुक्ति स्वयं आत्माका स्वरूप ही है। ज्ञानरूपसे उपलक्षित आत्मा ही अज्ञानकी निवृत्ति है। निवृत्ति कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। इस-लिए मुक्तिमें प्राप्य-प्रापक, साध्य-साधन आदि भाव भी नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि श्रुतिका तात्पर्य भेदके प्रतिपादनमें नहीं है, क्योंकि भेदकी सिद्धिसे मुक्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न : फिर भेद-प्रतिपादक श्रुतियोंका क्या होगा ?

उत्तर : भेद-प्रतिपादक श्रुतियाँ अविरक्त अधिकारीके लिए हैं। उनसे लौकिक-पारलौकिक सिद्धिकी प्राप्ति होती है, व्यष्टि-समष्टिका कल्याण करती हैं, अन्तःकरण शुद्ध करती हैं, मुमुक्षुको ज्ञानोन्मुख करती हैं। इसलिए व्यवहारमें उनका बहुत ही उपयोग है; परन्तु जहाँ वस्तुकी प्रधानतासे परमार्थ-तत्त्वका निरूपण है, वहाँ श्रुतियाँ भेदको ज्ञाननिवर्त्य; अतएव मिथ्या बताती हैं। जो वस्तु अज्ञानसे निवृत्त होती है, वह भी मिथ्या ही होती है। अतएव सर्वाधिष्ठान सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानसे तद्विषयक अज्ञानकृत सर्वभेदकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

बात यह है कि केवल इन्द्रिययन्त्रोंसे तत्त्वका अनुसन्धान करनेपर केवल एक या अनेक जड़सत्ताकी ही सिद्धि होती है। चिद्वस्तु यन्त्रग्राह्य नहीं है। केवल बुद्धिसे अनुसन्धान करनेपर बुद्धिकी शून्यता ही परमार्थरूपसे उपलब्ध होती है; क्योंकि विचार-विक्षेपात्मक बुद्धिका अन्तिम सत्य निर्वाणात्मक शून्य ही है। भक्ति-भावनायुक्त बुद्धिके द्वारा अनुसन्धान करनेपर सर्वप्रमाण-प्रमेय-व्यवहारके मूलभूत सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वरकी सिद्धि होती है। ऐसी स्थितिमें स्वतःसिद्ध साक्षीको अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म बतानेके लिए कोई इन्द्रिययन्त्र या भाव-भक्ति समर्थ नहीं हैं। उसका ज्ञान केवल औपनिषद ऐक्यबोधक महावाक्यसे सम्पन्न होता है।

●

ईश्वर आपके पास

आस्तिकता और नास्तिकता दोनोंका फल प्रत्यक्ष है। ईश्वर और चैतन्यकी सत्ता-महत्ता स्वीकार न करनेका यह प्रत्यक्ष फल है कि हम, हमारा मन और शरीर सब कुछ एक साथ मर जाता है और सदा-सर्वदाके लिए जड़तामें विलीन हो जाता है। इसके विपरीत ईश्वर अथवा चैतन्यको देहादिसे अलग विवेक कर लेनेवाले सदा-सर्वदाके लिए इष्टमें मिल जाते हैं। आस्तिकताका यह प्रत्यक्ष फल है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए हम यों कह सकते हैं कि आस्तिककी दृष्टिसे देहसे पूर्व भी आत्माका अस्तित्व है और पश्चात् भी। देह उत्पन्न होता है, देहमें परिवर्तन होते हैं; देह मरता है, मरनेके बाद भी बदलता रहता है; परन्तु आत्मा ज्यों-का-त्यों रहता है। नास्तिक इन बातोंकी हँसी उड़ाता है और अपनी खोज पूरी किये बिना ही बिना अनुभवके यह मान बैठता है कि चैतन्यसत्ता है ही नहीं। वह जड़ सचमुच ही आग्रहजड़ है। चेतन सत्ताकी साक्षात् अनुभूतिके लिए धर्मानुष्ठानके द्वारा देहेन्द्रियको नियन्त्रित करना पड़ता है। इसका फल यह होता है, जैसे छिलका अलग हो गया हो और गूदा तथा गुठली शेष रह गयी हो। मर्यादोचित शिष्टानुशिष्ट कर्म करने एवं अमर्यादित, अनुचित, अशिष्ट कर्मका परित्याग कर देनेसे आत्मा कर्ताके रूपमें देहेन्द्रियादिकोंसे पृथक् निखर

आता है। मनुष्यके लिए केवल दो ही गतियाँ हैं—एक तो यह कि वह अपनेको जड़ताके प्रवाहमें डाल दे अथवा नियन्त्रण और संयम करके अपनेको चेतनकी ओर उन्मुख करे। चेतनको जानना मानना ही धार्मिकताका प्रारम्भ है। सम्पूर्ण विश्वमें ऐसा कोई धार्मिक सम्प्रदाय नहीं है—भारतीय, अभारतीय, वैदिक या अवैदिक, जो किसी-न-किसी रूपमें चेतन सत्ताको स्वीकार न करता हो। चेतन सत्ताकी स्वीकृति ही धर्मकी मूलभित्ति है और धर्मानुष्ठान ही उसे जड़ताकी दृढ़ ग्रन्थिसे मुक्त करता है।

चेतन सत्ताकी स्वीकृति ही आस्तिकताका मूल है। अपनेको चेतन जान लेनेपर देह, इन्द्रियके भोग-रोगका उतना मूल्यांकन नहीं रहता। देहाभिमान छूटता है, प्रयासकी दिशा बदल जाती है, मन वासनाका अनुसरण छोड़कर अनुशासनमें टिकने लगता और बारंबार चेतनके पास जाकर बैठता है। ईश्वरचैतन्यके पास बैठना उपासना है और आत्मचैतन्यके पास बैठना योग है। चैतन्यकी उपासना और उसमें स्थिति होनेसे देश-कालके बन्धन श्लथ हो जाते हैं और व्यक्तित्व जीवनकी उस अनन्त चैतन्य सत्तासे एक हो जाता है। नास्तिकता दुःख, अज्ञान तथा मृत्युका मार्ग है। आत्मज्ञान अनन्त जीवन, स्वतन्त्र सुख और परमानन्दका मार्ग है। दोनों मार्ग खुले हैं—येनेष्टं तेन गम्यताम्। जिससे जाना चाहो, जाओ। केवल दृष्टि ही दी जा सकती है। किसीको घसीटकर ले जाना न तो व्यावहारिक है न उचित। अपने मनको अपने ही अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें प्रवेश करने दीजिए। उसे चेतनसे एक होने दीजिए। फिर सब समीप है। न ईश्वर दूर है और न तो उसके मिलनेमें देर है। नारायण दूर हो नहीं सकता। नरका हृदय नार है और वही जिसका घर है उसे नारायण कहते हैं। वह तो यहीं है, अभी है और यही है। हममें है,

हमारी माताके गर्भमें है, पिताके वीर्यमें है, गेहूँके कणमें है, पञ्च-भूतमें है। उसके अतिरिक्त और है ही क्या ? वह विश्व, विश्वातीत, 'विश्वसाक्षी, विश्वनिर्माता, विश्वोपादान एवं अद्वितीय है।

प्रश्न यह उठता है कि वह ईश्वर हमारे अन्तरमें ही निरन्तर बैठा है तो दीखता क्यों नहीं ? आप दर्शनकी प्रक्रियापर ध्यान दें। हमारी इन्द्रियोंसे जो पदार्थ दीखते हैं, उनमें इन्द्रिय और पदार्थके बीचमें भी एक तीसरी वस्तु रहती है। उसको अधिदैव कहते हैं। जैसे, नेत्र और रूपके बीचमें प्रकाशका होना आवश्यक है। नेत्र अध्यात्म हैं, रूप अधिभूत है और प्रकाश अधिदैव है। इसी प्रकार जब साक्षी अपनी दृष्टिसे किसी वस्तुको देखता है तो साक्षी और वस्तुके बीचमें ईश्वर होता है। जब बुद्धिसे हम औचित्य, न्याय्य अथवा धर्मका निश्चय करते हैं तब बुद्धिको सहायता देनेवाले चैतन्य प्रकाशका नाम ही वासुदेव होता है। जो सबकी बुद्धिके अन्तरमें रहकर उसका नियमन करता है, प्रेरणा और प्रकाश देता है, उसीको तो ईश्वर कहते हैं। अच्छाई-बुराई, हित-अहितका ज्ञान किसके सहारे होता है ? व्यष्टि एवं समष्टि बुद्धियों और उनके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला कौन है ? जिससे सब चमक रहा है, दमक रहा है, वही चैतन्य ज्ञानस्वरूप ईश्वर है।

'यदि कोई टेलीफोन (तडित्स्वन) पर बात करना चाहे तो किस नम्बरपर मिलाये ?' एक महात्मासे किसीने प्रश्न किया। महात्माने हँसकर उत्तर दिया—'अपने हृदयका डायल निरभि-मानताके नम्बरपर घुमाओ। ईश्वर तुम्हारी अन्तरकी ध्वनि सुनेगा और उत्तर भी देगा। चाहे जितनी भी बात कर लो ! तद्दूरे तद्वन्तिके ! ईश्वर दूरसे दूर है, पाससे पास है।'

ईश्वर और जीवके बीचमें कोई आवरण नहीं है। जीव और ईश्वर परस्पर घुल-मिलकर ही रहते हैं। वेदान्तियोंने मल, विक्षेप और आवरण तीन दोष माने हैं, परन्तु भक्तिसिद्धान्तमें आवरण दोष नहीं है। अंशी और अंश, सिन्धु और विन्दु, जल तथा तरङ्गके बीचमें यवनिका कहाँ है? भक्तिके आचार्योंने स्पष्ट शब्दोंमें उद्घोष किया है कि ईश्वरके प्रति प्रेमकी न्यूनता अथवा ईश्वरसे विमुखता ही उसके दर्शनमें बाधक है। नर नारायणसे दूर जा नहीं सकता। नारायण नरसे पृथक् कभी हो नहीं सकते। नर-नारायणकी सनातन अचल एकरस जोड़ी है। नारायण नर हैं, तो नर नारायण है। प्रह्लादने कहा है कि यह सारी सृष्टि और स्वयं मैं ईश्वर ही हैं— **सकलमिदमहं च वासुदेवः** (वि० पु०)। आश्चर्यकी बात तो यह है कि दर्शनशास्त्रकी कक्षामें परस्पर मतभेद रखनेवाले अद्वैती शंकर, विशिष्टाद्वैती रामानुज; विशुद्धाद्वैती वल्लभ और अचिन्त्य द्वैताद्वैती बलदेव विद्याभूषण सभी प्रह्लादके इस वचनको अपने-अपने मतकी पुष्टिके लिए उद्धृत करते हैं और **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** श्रुतिके समान ही स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्थामें ईश्वरके अदर्शनका कारण क्या? श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—'यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे हृदयमें ईश्वरके प्रति अनुरागका उदय नहीं हुआ।' यह अनुरागका अनुदय ही ईश्वरके दर्शनमें प्रतिबन्धक है।

अब प्रश्न है कि भक्ति क्या है? शाण्डिल्यके अनुसार ईश्वरमें परमानुराग ही भक्ति है। नारदके अनुसार वह परम प्रेमरूपा है अमृतस्वरूपा भी है। अङ्गिराके अनुसार परमात्मा रसरूप है, इसलिए पूर्ण रसात्मिका वृत्ति ही भक्ति है। जिस किसी भी निमित्तसे प्रेमपूर्वक चित्तवृत्तिका भगवदाकार होना ही भक्ति है। मैंने एक महात्मासे प्रश्न किया—'हमारे जीवनमें भक्ति कैसे प्रकट हो?'

उन्होंने कहा—माता जब बच्चेको पाठशाला भेजती है तो साथमें कलेऊ रखती है। आने-जानेके लिए सवारीकी और मार्गमें सुरक्षाकी व्यवस्था भी कर देती है। जबतक अपना शिशु माताके पास लौट नहीं आता तबतक वह उसका ध्यान भी रखती है। क्या परमेश्वरने, हमारे सच्चे माता-पिताने हमें संसारमें खाली हाथ भेज दिया है? नहीं, नहीं, भक्ति तो हमारे साथ ही रख दी। यह शाश्वत पाथेय हमारे हृदयकी झोलीमें भरा है। कहाँ है वह भक्ति? उसके दर्शन दुर्लभ क्यों हो गये हैं? उत्तर स्पष्ट है। हमारे हृदयमें मोह है। उसकी दो वृत्तियाँ हैं—अहंता और ममता। देहमें अहंता प्रधान है, परिवार आदिमें ममता। मोहकी इन दोनों वृत्तियोंको मिटानेकी आवश्यकता नहीं है। बस, इन्हें भगवान्‌के साथ जोड़ना है। 'मैं' का पेट देहसे मत भरो, भगवान्‌से भरो। 'मेरापनका' पेट बेटेसे नहीं, धनसे नहीं, भगवान्‌से भरो। बस, मोहका रुख ईश्वरके सम्मुख कर दो। इसीका नाम भक्ति है। इसी प्रकार काम, लोभ आदिका मुख भी भगवान्‌की ओर मोड़ दो। भगवान् ही परम सुन्दर, परम प्रिय हैं। भगवान् ही परम धन, सर्वस्व हैं। काम-लोभसे लड़ो मत! उनका रूपान्तर कर दो। विषयके अतिरिक्त उनका और कोई रूप नहीं है। इसलिए जहाँ उनके विषयके रूपमें भगवान् होंगे, वहाँ ये ही भक्ति बन जायँगे। शान्ति युद्ध और संघर्षमें नहीं है, मनके भगवान्‌के साथ जुड़नेमें है। हम प्रह्लादके शब्दोंमें प्रार्थना करें कि अविवेकी पुरुष संसारके विषयोंमें जैसी प्रीति करते हैं, हमारी वैसी ही प्रीति आपके चरणोंमें बनी रहे—'जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं।'

भगवान्‌के साथ प्रीति जोड़ें कैसे? वृत्तियोंको कैसे मोड़ें? विषयवासनाको कैसे छोड़ें? इन चिराभ्यस्त सम्बन्धोंको कैसे तोड़ें?

उपाय यह है कि धन, परिवार, कामिनी और शत्रुके स्थानपर भगवान्‌को बैठाकर उन्हें निकाल फेंकिए। प्यार और प्यास, लोभ एवं क्षोभ, क्रोध एवं शोध भगवान्‌के साथ जोड़िए। उन्हींके लिए रोइये, हँसिये। उन्हींसे लड़िये-झगड़िये। सम्बन्धके सारे बन्धन उन्हींके साथ बाँधिये। आप देखेंगे कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिए जो कुछ साधन-सामग्री चाहिए, वह आपको पहलेसे ही प्राप्त है।

हमारी भक्तिका क्या रूप हो? आप पहले विचार कीजिये कि आपको भगवान्‌का अधिक वियोग फुरता है या संयोग! दोनों ही स्थितियोंमें आप गोपियोंकी वियोग-लीला और मिलनलीलाका अनुसंधान कर सकते हैं। यदि हम संसारकी अच्छी वस्तुओंको अपने साथ सटाकर रखना चाहें और बुरी वस्तुओंको हटा देना चाहें और बादमें भक्ति करनेकी योजना बनायें तो वह कभी सधेगी नहीं। बहुत लोग योजना बनाते-बनाते ही मर जाते हैं। संसारकी सब वस्तुओंको हटाना-सटाना शक्य नहीं है। थोड़ी-सी वस्तुओंको भी हटाना-सटाना देरतकके लिए नहीं हो सकता। यह कार्यक्रम तो कभी समाप्त नहीं हो सकता। इनसे सुखी-दुःखी होना मूर्खता है। इनको जहाँका तहाँ, ज्योंका त्यों रहने दिया जाय। इनसे छेड़-छाड़ करके रार मचाना अनावश्यक है। हमें यही नीति अपनानी पड़ेगी कि 'तू तो राम भजो जग लड़वा दे'।

मैंने एक महात्मासे प्रश्न किया—'संसारको कितना सुधार दिया जाय, कैसा सँवार दिया जाय या इसमें कितना निखार दिया जाय कि इसको आप पसन्द करेंगे?' उन्होंने कहा—भाई! संसार तो हमें कभी पसन्द न आयेगा। हमें तो जिसको पसन्द करना था, पसन्द कर चुके हैं। हम क्या इसीके लिए पैदा हुए हैं? यहाँसे

कबीरकी भाँति बेदाग जाना चाहिए—'दास कबीरा ऐसी ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीन्हि चदरिया।' भगवान्ने हमें अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ इसलिए दी हैं कि हम ऊबें नहीं। ईश्वरने दुःख इसलिए दिया है कि हम संसारमें अटकें नहीं। निद्रा इसलिए दी है कि हम भटकें नहीं। अपने प्रिय स्थान अन्तर्देशका ज्ञान बना रहे। चंचलता इसलिए दी है कि हम कहीं लटकें नहीं। किसीके प्रेममें फँस न जायँ। नित्य खीर खाकर भी मन ऊब जाता है। मन यदि चंचल है तो इस बन्दरको मनमोहनके सामने नचाइये। वृत्तियाँ चंचल हैं तो इन अप्सराओंको भगवान्के सामने रासमें लगा दीजिये। इसीसे ईश्वरके साथ जुड़ना सहज हो जाता है। जब आप यह कल्पना करेंगे कि ईश्वर हमारे साथ जगता है, स्नान एवं खान-पान करता है, हमारे साथ सोता और चलता है तब आप देखेंगे सचमुच ईश्वर आपके साथ है। आपकी कल्पनामें ईश्वरके आरूढ़ होते ही वह कल्पना न होकर सच्ची हो जायगी। आप गोपियोंके सम्भोग-विप्रलम्भात्मक संयोग-वियोगरूप प्रेमपर ध्यान दें, आपके हृदयमें वह प्रेम उतर आयेगा। भगवान् स्वयं प्रेमस्वरूप हैं। वे कुरुक्षेत्रमें यशोदा माताकी गोदमें सिर रखकर रोते हैं, सुदामाके पाँव आँसुओंसे धोते हैं, रुक्मिणीके लिए उन्हें नींद नहीं आती। जीव और ईश्वर नित्य सखा हैं। उनके पास पहुँचे बिना जीव सुखी नहीं हो सकता। प्रारम्भ आस्तिकता, श्रद्धा, आस्था और दृढ़ निश्चयसे होता है। परन्तु इसकी परिणति सत्यके साक्षात्कारमें होती है। सत्य अभी है, यहीं है, यही है और तुमसे जुदा नहीं है। केवल एक बार उसकी ओर उन्मुख होनेकी आवश्यकता है।

•

★ सत्साहित्य पढ़िये ★

[स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती जी विरचित]

१.	माण्डूक्य-प्रवचन (आगम-प्रकरण)	६.००
२.	माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (वैतथ्य-प्रकरण)	५.००
३.	श्रीमद्भागवत-रहस्य	२.५०
४.	भक्ति-सर्वस्व	५.००
५.	सांख्ययोग	६.५०
६.	ध्यानयोग	४.००
७.	कर्मयोग	४.००
८.	भक्तियोग	४.००
९.	अपरोक्षानुभूति	४.००
१०.	साधना और ब्रह्मानुभूति	३.५०
११.	नारदभक्ति-दर्शन	६.००
१२.	कपिलोपदेश	२.५०
१३.	ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना	६.५०
१४.	'चिन्तामणि' त्रैमासिक पत्रिका —वार्षिक मूल्य	४.००

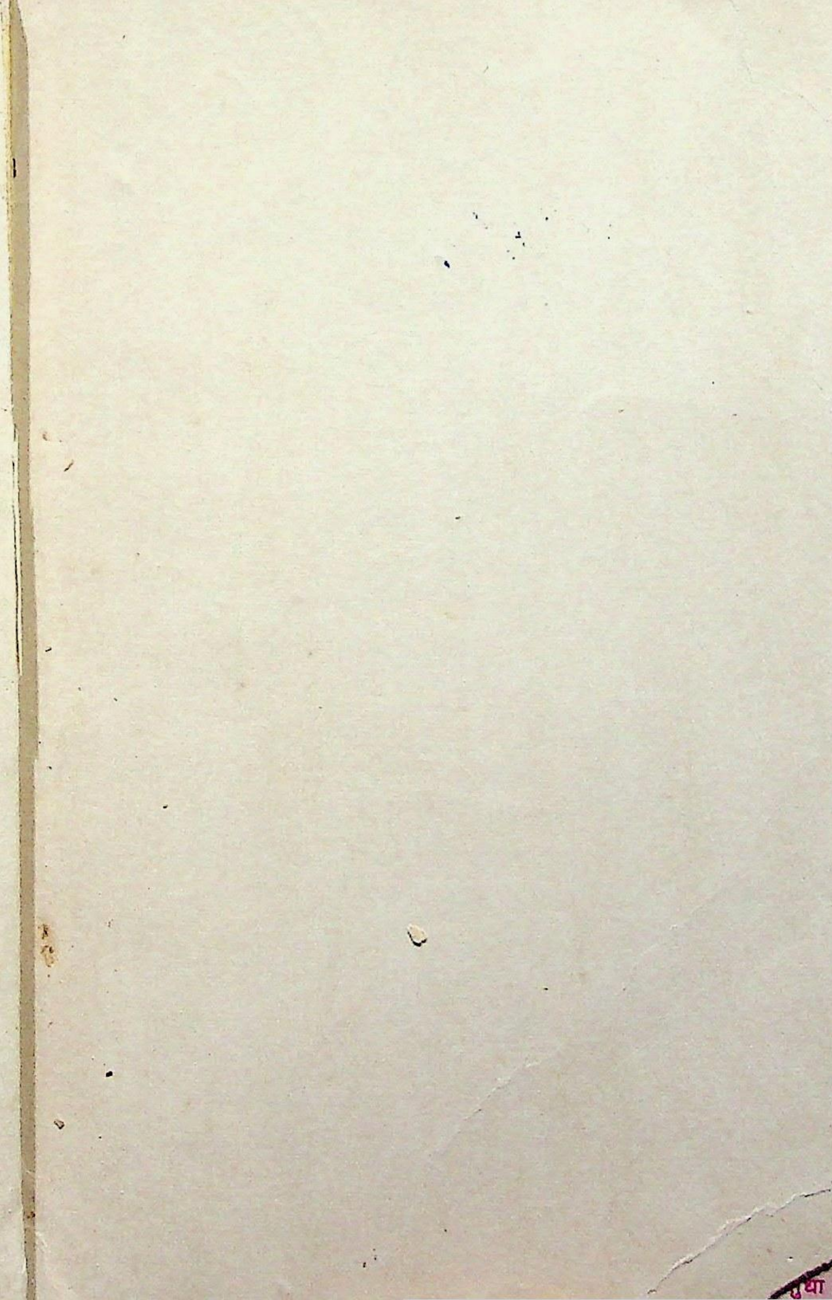
अन्यान्य अनेक पुस्तकोंकी सूची निम्नलिखित पतेसे मँगाइये

व्यवस्थापक

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' २८/१६

रिजरोड, बम्बई—६




एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति